विवेक-ज्योति

वर्ष ४३ अंक ३ मार्च २००५ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक ३

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन, रायपुर' छत्तीसगढ़ - के नाम से ही बनवायें)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय: ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी सख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखाप्तस्वल्पवित्तस्मयपवनवशान्नर्तितभ्रूलतानि।।२५।।

अन्वय – कन्दरेभ्यः कन्दाः किं प्रलयम् उपगताः वा गिरिभ्यः निर्झरा वा तरुभ्यः सरस-फल-भृतो च वल्कलिन्यः शाखाः प्रध्वस्ताः यत् प्रसभम् अपगत-प्रश्रयाणां खलानां दुःख-आप्त-स्वल्प-वित्त-स्मय-पवन-वशात्-नर्तित भ्रू-लतानि मुखानि वीक्ष्यन्ते ।।

भावार्थ – क्या गिरि-कन्दराओं के फल-मूल आदि खाद्य-पदार्थ समाप्त हो गये हैं, या पहाड़ों के झरने सूख गये हैं, या वृक्षों के मधुर फलधारी तथा वल्कलयुक्त शाखाएँ ध्वस्त हो गयी हैं; अन्यथा क्यों व्यक्ति उन अत्यन्त विनयरहित दुष्ट लोगों के मुखों का दर्शन करेगा, जो बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुए अल्प धनरूपी गर्व-वायु से संकुचित अपनी भृकुटियाँ सर्वदा टेढ़ी किये रहते हैं !!

पुण्यैर्मूलफलैस्तथा प्रणयिनीं वृत्तिं कुरुष्वाधुना
भूशय्यां नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ठ यावो वनम्।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
वित्तव्याधिविकारविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते।।२६।।

अन्वय – उत्तिष्ठ वनम् यावः, अधुना पुण्यैः मूलफलैः प्रणयिनीं वृत्तिं कुरुष्व तथा अकृपणैः नवपल्लवैः भू-शय्यां, यत्र क्षुद्राणाम् अविवेक-मूढ-मनसां सदा वित्त-व्याधि-विकार-विह्वल-गिराम् ईश्वराणां नाम अपि न श्रूयते ।।

भावार्थ – (हे मित्र), उठो, अब हम वन में चलेंगे, वहाँ पवित्र फल-मूल द्वारा अति प्रिय आजीविका अपनाएँगे और ताजे नव-पल्लवों से भूमि पर बिस्तर सजायेंगे, वहाँ क्षुद्र अज्ञानी मूढ़ मनवाले और धन से रोग से विकृत हुई वाणीवाले राजाओं का नाम तक सुनने को नहीं मिलेगा।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

परमहंस श्रीरामकृष्ण हैं, इस युग के अवतार ।
नारायण आए हैं फिर से, हरने को भूभार ।।

राक्षस प्रबल हुए त्रेता में, अनाचार फैला था जग में ।
'राम' रूप धर किया तुम्हीं ने, रावण का संहार ।।

कुरुक्षेत्र के रणप्रागण में, द्वन्द्व हुआ अर्जुन के मन में ।
'कृष्ण' रूप तब तुमने की थी, उनकी नैया पार ।।

काम-लोभ कलियुग के निशिचर,
भोगवाद है शत्रु भयंकर ।
इन्हें मिटाने महात्याग का, साज लिया इस बार ।।

जग में सामंजस्य बढ़ेगा,
भेद-भाव विद्वेष घटेगा ।
शान्ति और सुख से 'विदेह', सिंचित होगा संसार ।।

– २ –

(मधुवन्ती–कहरवा)

ठाकुर, शरण तुम्हारी आया ।
सुन्दर, सुखमय, सुभग सलोना,
रूप तुम्हारा चित्त को भाया ।।

मायामय जग अँधियारा था,
मैं इसमें खोया-हारा था ।
कृपा भोर अब, मम मन मधुकर,
चरण-युगल-जलजात लुभाया ।।

भाई-बन्धु सुत-सखा-संघाती,
प्रिय सब, चार दिनों के साथी ।
तुम्हें छोड़ चिर दिन को अपना,
नहीं 'विदेह' किसी को पाया ।।

ब्रह्मचर्य : एकाग्रता में सहायक

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमशः उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

पूर्ण ब्रह्मचर्य के द्वारा मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति बड़ी प्रबल हो जाती है।[४९] बारह वर्षो तक काय-मनो-वाक्य से अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने से शक्ति प्राप्त होती है। इसका ठीक-ठीक पालन कर पाने से सारी विद्याएँ क्षण भर में याद हो जाती हैं – व्यक्ति श्रुतिधर, स्मृतिधर बन जाता है। ब्रह्मचर्य के अभाव से ही हमारे देश का सब कुछ नष्ट हो गया।[५०] जब जो काम करना हो, तब उसे पूरी लगन और शक्ति के साथ करो। गाजीपुर के पवहारी बाबा जैसे एकचित्त से ध्यान-जप, पूजा-पाठ आदि करते थे, वैसे ही अपने पीतल के लोटे को भी माँजते थे, ऐसा माँजते कि सोने की भाँति चमकने लगता। बुरी कल्पना उतनी ही बुरी है, जितनी बुरी क्रिया। कामेच्छा का दमन करने पर उससे सर्वोच्च लाभ होता है।[५१] उसका संयम करने से शक्ति में वृद्धि होती है। इस आत्म-संयम से महान् इच्छा-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है; वह बुद्ध या ईसा जैसे चरित्र का निर्माण करता है। मूर्ख लोग इस रहस्य को नहीं जानते।[५२]

काम-शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिणत करो, यह शक्ति जितनी प्रबल होगी, उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा। प्रबल जलधारा मिले, तो उसकी सहायता से खान खोदने का कार्य किया जा सकता हैं।[५३] ब्रह्मचर्य-युक्त व्यक्ति के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति – महती इच्छा-शक्ति संचित रहती है। ब्रह्मचर्य को छोड़ अन्य किसी भी उपाय से आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती। इसके द्वारा मनुष्य-जाति पर आश्चर्यजनक क्षमता प्राप्त की जा सकती है। दुनिया के सभी आध्यात्मिक नेता ब्रह्मचर्यवान थे – उन्हें सारी शक्ति इस ब्रह्मचर्य से ही मिली थी।[५४] प्रत्येक को पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लेना चाहिए, तभी हृदय में श्रद्धा और भक्ति का उदय होगा।[५५] हमें पुनः सच्चा श्रद्धा-भाव जगाना होगा, अपने सुप्त आत्म-विश्वास को जगाना होगा, तभी हम आज की राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकेंगे।[५६]

एक असंस्कृत मनुष्य इन्द्रिय-सुखों में ही उन्मत्त रहता है। ज्यों-ज्यों वह सुसंस्कृत होता है, त्यों-त्यों उसे बौद्धिक विषयों में सुख मिलने लगता है और उसके विषय-भोग भी धीरे-धीरे कम होते जाते हैं। कुत्ता या भेड़िया जितनी रुचि के साथ खाता है, मनुष्य खाने में उतना रस नहीं ले सकता। पर मनुष्य बुद्धि या बौद्धिक कार्यों से जो आनन्द ले पाता है, उसका अनुभव कुत्ता कभी नहीं कर सकता। शुरू में इन्द्रियों से सुख होता है; पर प्राणी ज्यों-ज्यों उच्चतर दशाओं में उन्नीत होता है; त्यो-त्यों इन्द्रिय-सुखों में उसकी रुचि कम होती जाती है। संसार में हम देखते हैं कि व्यक्ति जितना ही पशुवत् स्वभाव का होता है, वह इन्द्रियों में उतने ही तीव्र सुख का बोध करता है। पर वह जितना संस्कृत और उच्च होता है, उतना ही उसे बुद्धि-सम्बन्धी तथा वैसे ही अन्य सूक्ष्मतर बातों में आनन्द मिलने लगता है।[५७] मनुष्य और पशु में यही भेद है – मनुष्य में चित्त की एकाग्रता की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। एकाग्रता की शक्ति में भेद के कारण ही एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है। छोटे-से-छोटे व्यक्ति की तुलना बड़े-से-बड़े व्यक्ति से करो। भेद मन की एकाग्रता की मात्रा में होता है।[५८] मेरे विचार से – **शिक्षा का सार मन की एकाग्रता प्राप्त करना है**, तथ्यों का संकलन नहीं।[५९]

प्रत्यक्ष अनुभूति

प्रकृति के साथ नियमित सान्निध्य रखने पर उसी से सच्ची शिक्षा मिलती है।[६०] अनुभव ही हमारा एकमात्र शिक्षक है। भले ही हम सारे जीवन तर्क-विचार करते रहें, पर प्रत्यक्ष अनुभव के बिना सत्य का कण मात्र भी न समझ सकेंगे।[६१]

यदि सारा ज्ञान हमें प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त हुआ हो, तो यह निश्चित है कि हमने जिसका कभी प्रत्यक्ष अनुभव न किया हो, उसकी कल्पना या धारणा भी हम कभी नहीं कर सकते। अण्डे से बाहर आते ही मुर्गी के चूजे दाना चुगना शुरू कर देते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि यदि कभी बतख का अण्डा मुर्गी द्वारा सेया गया, तो भी बतख का बच्चा अण्डे से बाहर आते ही पानी में चला गया और इधर उसकी मुर्गी-माँ सोचती है कि शायद बच्चा पानी में डूब गया। यदि प्रत्यक्ष-अनुभूति ही ज्ञान का एकमात्र उपाय हो, तो इस मुर्गी के चूजे ने दाना चुगना कहाँ से सीखा? या फिर बतख के बच्चों ने यह कैसे जाना कि पानी ही उनका स्वाभाविक स्थान है? यदि कहो कि यह जन्मजात-प्रवृत्ति (instict) मात्र है, तो उससे कुछ भी बोध नहीं होता। ... यह जन्मजात प्रवृति क्या है? हम लोगों में भी ऐसी बहुत-सी जन्मजात-प्रवृत्तियाँ हैं।

जैसे, तुममें से अनेक महिलाएँ पियानो बजाती हैं; तुमको यह अवश्य स्मरण होगा, जब तुमने पहले-पहले पियानो सीखना शुरू किया, तब तुमको सफेद और काले परदों में, एक के बाद दूसरे पर बड़ी सावधानी के साथ अँगुलियाँ रखनी पड़ती थीं, पर कुछ वर्षों के अभ्यास के बाद अब शायद तुम किसी मित्र के साथ बातें भी कर सकती हो और साथ ही तुम्हारी अँगुलियाँ स्वत: पियानो पर चलती भी रहती हैं। यानी वह अब तुम्हारी जन्मजात-प्रवृति में परिणत हो गया है – वह तुम्हारे लिए अब पूर्ण रूप से स्वाभाविक हो गया है।

हम जो अन्य सब कार्य करते हैं, उनके बारे में भी ठीक ऐसा ही है। अभ्यास से वे सब जन्मजात-प्रवृति में परिणत हो जाती हैं, स्वाभाविक हो जाती हैं। और जहाँ तक हम जानते हैं, आज जिन क्रियाओं को हम स्वाभाविक या जन्मजात-प्रवृति से उत्पन्न कहते हैं, वे सब पहले तर्कपूर्वक ज्ञान की क्रियाएँ थीं और अब निम्न भावापन्न होकर इस प्रकार स्वाभाविक हो गयी हैं। ... प्रत्यक्ष-अनुभूति के बिना युक्ति-विचार नहीं हो सकता, इसीलिए समस्त जन्मजात-प्रवृतियाँ पहले की प्रत्यक्ष-अनुभूतियों के फल हैं। ... पहले के अनुभूत बहुत-से भय के संस्कार कालान्तर में इस जीवन के प्रति ममता के रूप में परिणत हो जाते हैं। यही कारण है कि बालक अति शैशव-काल से ही अपने आप डरता रहता है, क्योंकि उसके मन में दु:ख का पूर्व अनुभूतिजनित संस्कार विद्यमान है। ... योगियों की दार्शनिक भाषा में हम कह सकते हैं कि वह संस्कार के रूप में परिणत हो गया है।[६२] शिक्षा अस्थि-मज्जा में प्रविष्ट होकर संस्कृति में परिणत हो जाने पर, वही युग के आघातों को सहन कर सकती है, मात्र ज्ञान-राशि नहीं। तुम संसार के सामने बहुत-सा ज्ञान रख सकते हो, पर उससे कुछ विशेष लाभ न होगा। ज्ञान को रक्त में व्याप्त होकर संस्कार में परिणत हो जाना चाहिए।[६३]

मान लो, मैंने रास्ते में एक कुत्ता देखा। मैंने कैसे जाना कि वह कुत्ता ही है? – मेरे मन पर ज्योंही उसकी छाप पड़ी, त्योंही मैं उसका अपने मन के पूर्व संस्कारों से मिलाने लगा। मैंने देखा कि वहाँ मेरे सारे पूर्व-संस्कार स्तर-स्तर में सजे हुए हैं। ज्योंही कोई नयी चीज आयी, त्योंही मैं उसे पुराने संस्कारों के साथ मिलाने लगा। और जब मैंने अनुभव किया कि 'हाँ, उसी की भाँति और भी कई संस्कार यहाँ विद्यमान हैं' – तो बस मैं तृप्त हो गया। तब मैंने जाना कि इसे कुत्ता कहते हैं, क्योंकि पहले के कई संस्कारों के साथ वह मिल गया। जब हम उस प्रकार का कोई संस्कार अपने भीतर नहीं देख पाते, तब हममें असन्तोष पैदा होता है इसी को अज्ञान' कहते हैं और सन्तोष मिल जाना ही 'ज्ञान' कहलाता है।

जब एक सेब गिरा, तो मनुष्य को असन्तोष हुआ। इसके बाद उसने क्रमश: ऐसी ही कई घटनाएँ देखीं – शृंखला की तरह ये घटनाएँ एक दूसरे से बँधी हुई थीं। यह शृंखला क्या थी? वह शृंखला थी कि सभी सेब गिरते हैं। और इसको उसने 'गुरुत्वाकर्षण' का नाम दे दिया। अत: हमने देखा कि पहले की अनुभूतियाँ न हों, तो कोई नयी अनुभूति पाना असम्भव है, क्योंकि उस नयी अनुभूति से तुलना करने के लिए कुछ भी नहीं मिल सकेगा। ... इससे सिद्ध होता है कि हम सब अपने भिन्न भिन्न ज्ञान-भण्डार के साथ आते हैं। **ज्ञान केवल अनुभव से प्राप्त होता है, जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं।**[६४] अत: जिसे हम मनुष्य या पशु की जन्मजात-प्रवृत्ति कहते हैं, वह पहले के इच्छाकृत कार्य का भाव होगा। और 'इच्छाकृत कार्य' कहने से ही यह स्वीकृत हो जाता है कि पहले हमने अनुभव प्राप्त किया था। पूर्वकृत कार्य से वह संस्कार आया था और अब भी विद्यमान है। मरने का भय, जन्म से ही तैरने लगना तथा मनुष्य में जितने भी अनिच्छाकृत सहज कार्य पाये जाते हैं, वे सभी पूर्व के कार्य तथा अनुभूतियों के फल हैं – वे ही अब सहज प्रेरणा में परिणत हो गये हैं।[६५]

यदि मुझे पुन: अपनी शिक्षा आरम्भ करनी हो और मेरा वश चले, तो मैं तथ्यों का अध्ययन कदापि नहीं करूँगा। मैं अपने मन की एकाग्रता तथा अनासक्ति की क्षमता बढ़ाऊँगा और उपकरण (मन) के पूर्णतया तैयार हो जाने पर उससे इच्छानुसार तथ्यों का संकलन करूँगा।[६६]

परानुकरण, नवानुकरण तथा आत्मबोध

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना आदर्श लेकर उसे रूपायित करने की चेष्टा करे। **दूसरों के अव्यावहारिक आदर्शों को लेकर चलने की अपेक्षा, अपने ही आदर्श का अनुकरण करना सफलता का अधिक निश्चित मार्ग है।** ... किसी समाज के सभी स्त्री-पुरुष एक ही तरह के मन, एक ही तरह की योग्यता और एक ही तरह की शक्ति के नहीं होते। अत: उनमें से प्रत्येक का आदर्श भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए। इन विभिन्न आदर्शों में से किसी का भी उपहास करने का हमें कोई अधिकार नहीं। प्रत्येक को यथासम्भव अपना आदर्श प्राप्त करने का प्रयास करने दो। फिर यह भी ठीक नहीं कि मैं तुम्हारे अथवा तुम मेरे आदर्श द्वारा जाँचे जाओ। सेब के पेड़ की तुलना ओक से नहीं करनी चाहिए और न ओक की तुलना सेब से करनी चाहिए।[६७]

आहार, पोशाक और जातीय आचार-व्यवहार का परित्याग करने पर, धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का लोप हो जाता है। विद्या सभी से सीखी जा सकती है, पर जिस विद्या से राष्ट्रीयता का लोप होता है, उससे उन्नति नहीं, अध:पतन ही होता है।[६८] उतावले मत बनो, किसी दूसरे का अनुकरण करने की चेष्टा मत करो। **दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता का लक्षण नहीं है**; यह महान् पाठ हमें याद रखना है। मैं यदि आप ही राजा-जैसी पोशाक पहन लूँ, तो क्या इसी से मैं राजा बन जाऊँगा? शेर की खाल ओढ़ने मात्र से गधा कभी शेर नही बन सकता।

नकल करना – हीन और कायर की भाँति नकल करना कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ा सकता। वह तो मनुष्य के घोर अध:पतन का लक्षण है। जब मनुष्य स्वयं से घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट बैठ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों का स्मरण करके लज्जित होता है, तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है।[६९]

आत्मविश्वासी बनो। पूर्वजों के नाम से अपने को लज्जित नही, गौरवान्वित महसूस करो। याद रहे, किसी का अनुकरण न करना। कदापि न करना। ... **अपने स्वयं के प्रयत्नों द्वारा अपने अन्दर की शक्तियों का विकास करो।** परन्तु दूसरे का अनुकरण न करना। हाँ, दूसरों में ज़ो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। हमें दूसरों से अवश्य सीखना होगा। बीज को जमीन में बो दो, उसके लिए यथेष्ट मिट्टी-हवा और जल की व्यवस्था करो; फिर कालान्तर में जब वह अंकुरित होकर एक विशाल वृक्ष के रूप में फैल जाता है, तब क्या वह मिट्टी बन जाता है, या हवा या जल? नहीं, वह तो विशाल वृक्ष ही बनता है – मिट्टी, हवा और जल से रस खींचकर वह अपनी प्रकृति के अनुसार एक महीरुह का रूप ही धारण करता है। उसी प्रकार तुम भी करो – **दूसरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है।** महर्षि मनु (२/२/३८) ने कहा है – ''नीच व्यक्ति की सेवा करके उससे भी यत्नपूर्वक श्रेष्ठ विद्या सीखने का प्रयत्न करो, हीन चाण्डाल से भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा ग्रहण करो।'' आदि आदि –

श्रद्दधानो शुभां विद्यां आददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्म स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।।[७०]

दूसरों के पास जो कुछ भी अच्छा मिले, उसे सीख लो; परन्तु उसे अपने भाव के साँचे में ढालकर लेना होगा। दूसरे से शिक्षा ग्रहण करते समय उनके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतन्त्रता ही गँवा बैठो। भारत के राष्ट्रीय जीवन से विच्छिन्न मत हो जाना। पल भर के लिए भी ऐसा न सोचना कि भारत के सभी निवासी यदि अमुक जाति की वेशभूषा धारण कर लेते या अमुक जाति के आचार-व्यवहारों के अनुयायी हो जाते, तो बड़ा अच्छा होता। ... राष्ट्रीय जीवन के स्रोत को पूर्ववत् प्रवाहित होने दो। हाँ, जो प्रबल बाधाएँ इसके मार्ग में रुकावट डाल रही हैं, उन्हें हटा दो; इसका रास्ता साफ करके प्रवाह को मुक्त कर दो; तो देखोगे – यह राष्ट्रीय जीवन-स्रोत अपनी स्वाभविक प्रेरणा से बहकर आगे बढ़ चलेगा और यह राष्ट्र अपनी सर्वागीण उन्नति करते हुए अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जायेगा।[७१]

मैंने सारे संसार में देखा है कि दीनता और दुर्बलता के उपदेश से बड़े अशुभ परिणाम हुए हैं, इसने मनुष्य जाति को नष्ट कर डाला है। हमारी सन्तानों को जब ऐसी ही शिक्षा दी जाती है, तो फिर यदि वे अन्त में अर्ध-विक्षिप्त हो जाते हैं, तो इसमें आश्चर्य की क्या?[७२] यदि तुम भौतिक दृष्टि से बड़े होना चाहो, तो विश्वास करो कि तुम बड़े हो। मैं एक छोटा-सा बुलबुला और तुम पर्वताकार ऊँची तरंग हो सकते हो, परन्तु यह समझ रखो कि हम दोनों के लिए पृष्ठभूमि अनन्त समुद्र ही है। अनन्त ईश्वर ही हमारी सब शक्ति तथा बल का भण्डार है और हम दोनों ही, क्षुद्र हों या महान्, उससे अपनी इच्छा भर शक्ति-संग्रह कर सकते हैं। अत: स्वयं पर विश्वास करो। ... संसार के इतिहास में देखोगे कि केवल वे ही राष्ट्र महान् तथा प्रबल हो सके हैं, जो आत्म-विश्वास से युक्त हैं। प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में तुम देखोगे, जिन राष्ट्रों ने स्वयं पर विश्वास किया है, वे ही महान् तथा सबल हो सके।[७३] दृढ़चित्त बनो और इससे भी बढ़कर पूर्णत: पवित्र और निष्कपट बनो। विश्वास करो – तुम्हारा भविष्य अत्यन्त गौरवमय है।[७४]

सन्दर्भ-सूची –

४९. वही, खण्ड ७, पृ. ८१; **५०**. वही, खण्ड ६, पृ. १८९; **५१**. वही, खण्ड १० पृ. ३१७, खण्ड ७, पृ. ८२; **५२**. वही, खण्ड ३, पृ. ९; **५३**. वही, खण्ड ७, पृ. ८२; **५४**. वही, खण्ड १, पृ. ७९; **५५**. वही, खण्ड ८, पृ. २३२; **५६**. वही, खण्ड ८, पृ. २६९; **५७**. वही, खण्ड ४, पृ. ४६-४७; **५८**. वही, खण्ड ४, पृ. १०८; **५९**. खण्ड ४, पृ. १०९; **६०**. वही, खण्ड ८, पृ. २३१; **६१**. वही, खण्ड १, पृ. ९७-९८; **६२**. वही, खण्ड १, पृ. १५५-५६; **६३**. वही, खण्ड ५, पृ. १८४; **६४**. वही, खण्ड २, पृ. ११४-१५; **६५**. वही, खण्ड २, पृ. ११६; **६६**. वही, खण्ड ४, पृ. १०९; **६७**. वही, खण्ड ३, पृ. १५; **६८**. वही, खण्ड ६, पृ. २३३-३४; **६९**. वही, खण्ड ५, पृ. २७२; **७०**. वही, खण्ड ५, पृ. २७२-७३; **७१**. खण्ड ५, पृ. २७३-७४; **७२**. खण्ड ५, पृ. ३१७; **७३**. खण्ड ५, पृ. ३१६; **७४**. खण्ड ५, पृ. ३३५।

स्वच्छता का महत्व
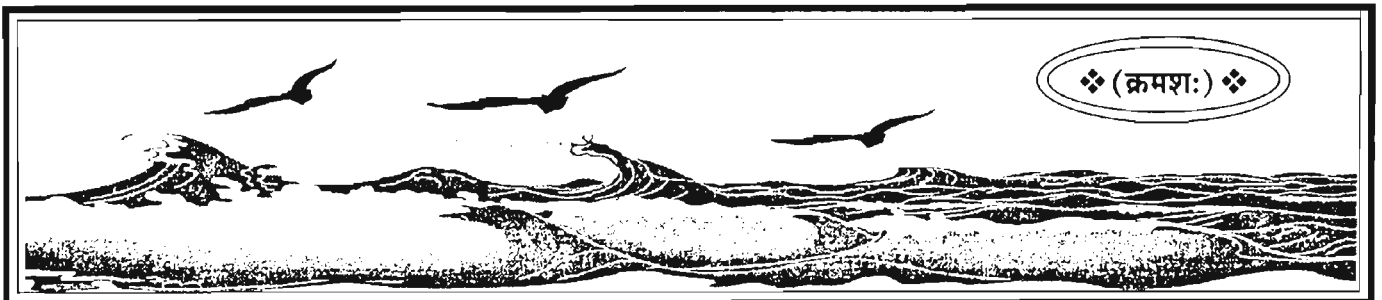
स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

स्वच्छता को भी देशों में सर्वोपरि महत्व दिया गया है। अँगरेजी में तो एक कहावत ही है कि Cleanliness is next to godliness - अर्थात् ईश्वरत्व के बाद यदि किसी की महत्ता है तो वह है स्वच्छता की। यह उचित ही है, क्योंकि ईश्वर समस्त शुभ का प्रतीक है, और जहाँ भी शुभत्व है, वहाँ हमें पावित्र्य का बोध होता है। पावित्र्य और शुभत्व दोनों साथ साथ चलते हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। और पावित्र्य फिर स्वच्छता का ही तो दूसरा नाम है।

सर्वप्रथम है शारीरिक स्वच्छता। हम शरीर को जल के द्वारा स्वच्छ करते हैं। हमारे वस्त्र भी साफ-सुथरे होने चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि वे धोबी के यहाँ से ही धुलकर आयें और इस्तरी किये हुए हों। तात्पर्य केवल इतना है कि वे मैले न हों। उसके बाद है मन की पवित्रता। मन को बुरे विचारों से बचाने का तरीका है उसे व्यस्त रखना और अवकाश के समय उसे स्वस्थ मनोरंजन में लगाना। मन खाली रहने पर बहुत उछल-कूद करता है और कई प्रकार के अवांछनीय विचारों को पोस लेता है। फिर, वाणी पर नियंत्रण भी बहुत आवश्यक है। जो वचन पूर्णतः पवित्र न हों, उनसे हमें बचना चाहिए। हमें इस प्रकार से बर्ताव करना चाहिए, जिससे दूसरे लोग हमारे सामने कोई अशुभ चर्चा करने का साहस न कर सकें। हमें सदैव यही प्रयत्न करना चाहिए कि शुभ विचारों का एक अन्तर्प्रवाह हमारे भीतर बहता रहे। वह बुरे विचारों से हमारी रक्षा करेगा और हमारे चारों ओर पवित्रता तथा नैतिकता का वातावरण बनाएगा।

पर हम यह ध्यान रखें कि ऐसा कहना तो सरल है, पर करना नहीं। जब हम शुभ विचार मन में उठाने की कोशिश करते हैं, तो सामान्यतः सफल नहीं होते। मन की पवित्रता के लिए हमें कुछ बातों पर विशेष ध्यान देना होगा। पहली तो यह कि हम सोने से पहले ऐसा साहित्य न पढ़ें, जो हमारी उत्तेजना को बढ़ावे और हमारी निम्न मनोवृत्तियों को जगावे। कारण यह कि हमारे सो जाने के बाद भी वह उत्तेजना हमारे अवचेतन मन को प्रभावित करती रहती है। इसका परिणाम बहुत बुरा होता है। चाहिए तो यह कि हम उस समय अपने मन को किसी पवित्र विचार या ध्वनि में लगाएँ। ज्यों-ज्यों हम निद्रा की गोद में उतरते जायँ, त्यों-त्यों उस पवित्र विचार या ध्वनि का शान्तिपूर्ण और गहरा चिन्तन करें। अपने अवचेतन मन के उपादानों को बदलने का यह सबसे प्रभावी साधन है। वास्तविक शुचिता अवचेतन मन को बदलने से आती है। हम जाग्रत अवस्था में बलपूर्वक अपने चेतन मन को अपवित्र बातों की ओर जाने से एक बार रोक भी सकते हैं, पर यदि हमारा अवचेतन मन शुद्ध नहीं हुआ, तो स्वप्न में हम उन बातों का अनुभव करते हैं जिनकी ओर जाने से हमने चेतन मन को बलपूर्वक रोक दिया था। अतः मन की स्वच्छता का मापदण्ड स्वप्न है। यदि स्वप्न में भी हमारा मन अपवित्र बातों की ओर न जाता हो, तो समझ लेना चाहिए कि हमने मानसिक स्वच्छता हासिल कर ली।

इस अवस्था की उपलब्धि के लिए दूसरी बात यह है कि हमें अच्छी आदतें डालनी चाहिए और उन्हें पुष्ट करना चाहिए। यह प्रक्रिया हमारे मन को शक्ति प्रदान करेगी। वास्तव में मन की दुर्बलता का कारण उसकी अस्वच्छता होती है। स्वच्छ मन शक्ति का भण्डार होता है। निर्मल हुआ मन निडरतापूर्वक सत्य का सामना करता है। और मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा सत्य है। अतः निर्मल मन मृत्यु-भय को जीत लेता है। वह हमें सिखाता है कि अरथी उतनी ही सत्य है, जितना कि पालना, श्मशान उतना ही सत्य है, जितना कि प्रसूति-गृह। फिर एक से हम क्यों भागें और दूसरे से उत्फुल्ल क्यों हों? न तो हम जीवन से चिपकें और न मृत्यु से भागें।

जो व्यक्ति इस प्रकार तन, मन और वचन से स्वच्छ हो जाता है, वह ईश्वरत्व के निकट पहुँच जाता है। वह मानवता के लिए वरदान स्वरूप बन जाता है। ❑❑❑

भरत-जन्म का उद्देश्य (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डितजी ने कोलकाता के संगीत-कला मन्दिर ट्रस्ट द्वारा आयोजित व्याख्यान-माला में 'भरत-चरित्र' पर कुछ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके दूसरे प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हमें यह अयोध्या के 'श्री रामायणम् ट्रस्ट' के सौजन्य से प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। – सं.)

जौं न होत जग जनम भरत को ।
सकल धरम धुर धरनि धरत को ।। २/२३३/१

जो पंक्ति चुनी गयी है उसका सरलार्थ यह है कि यदि भरतजी का जन्म न हुआ होता, तो धर्म की धुरा को 'कौन' धारण करता? अब जरा इसके मर्मार्थ पर विचार करें।

हमारी शास्त्रीय परम्परा में 'धर्म' शब्द की व्याख्या अनेक रूपों में की गई है। उसमें जो सर्वश्रेष्ठ और सुप्रचलित है, उसमें कहा गया है – **धारणात् धर्म इत्याहुः** – जो समाज को धारण करता है, जो सबको धारण करता है, वह धर्म है।

अब इस पंक्ति में चमत्कार क्या है? धर्म जो है, वह सबको धारण तो करता है। पर यहाँ पर गोस्वामीजी मानो प्रश्न उठाते हैं – "अब इन सबको धारण करनेवाले धर्म को धारण करनेवाला कौन है?" यही अद्भुत बात इसमें है। और इसका अभिप्राय यह है कि आखिरकार धर्म भी तो किसी न किसी व्यक्ति के चरित्र के माध्यम से ही हमारे समक्ष आता है। तो वस्तुतः धर्म क्या है, धर्म का क्या स्वरूप है? अब व्यक्ति जिस आधार पर बैठा हुआ है, उस आधार को धारण करनेवाला यदि कोई अन्य आधार नहीं है, तो उसके अभाव में उस पर बैठा हुआ व्यक्ति गिर जायेगा। इस तरह से श्री भरत को इतना उत्कृष्ट महत्त्व दिया गया है – **धर्म तो समाज को धारण करता है, पर श्री भरत स्वयं धर्म को ही धारण करनेवाले हैं**। यही उनकी विलक्षणता है।

वस्तुतः 'धर्म' शब्द जितना लोकप्रिय है, जितना प्रचलित है, जितना वन्दनीय है उतना ही यह धर्म बड़ी भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला भी है। और **धर्म शब्द का जितना सदुपयोग किया गया है, उससे कहीं अधिक इसका दुरुपयोग किया गया है**। यही धर्म के साथ सबसे बड़ी समस्या है। और उस समस्या को आप इस रूप में अनुभव करेंगे कि क्या संसार में कोई व्यक्ति यह कहता हुआ दिखाई देता है कि मैं तो धर्म के विरुद्ध हूँ या धर्म का विरोधी हूँ? ऐसे लोग बहुत कम होंगे। और यदि रामायण के पात्रों पर दृष्टि डालें, तो भगवान राम, श्री भरत, हनुमानजी, या जो भी उत्कृष्ट पात्र हैं, उनके तो पग-पग पर धर्म है। **परन्तु रामायण का खलनायक रावण भी बातें करते समय धर्म की ही दुहाई देता है**। अंगद द्वारा अपने लिए कटूक्तियों का प्रयोग किये जाने पर रावण ने यही तो कहा – "रे बन्दर, तेरे इन कटु वाक्यों को सुनकर भी मैं यदि सह रहा हूँ, तो यह मेरी नीति-निपुणता तथा धर्मज्ञता है। अन्यथा मेरी सभा में आकर इस प्रकार कठोर शब्दों के प्रयोग करने के बाद भी तू जीवित बचकर रह सकता था? लेकिन मैं क्या करूँ, मैं धर्म की मान्यताओं से बँधा हूँ –

नीति धर्म मैं जानत अहऊँ ।।

तो रावण भी स्वयं को महान् धार्मिक ही मानता है और कहता है कि मुझमें जो इतनी सहिष्णुता आ गई है, वह धर्म के ही परिणाम-स्वरूप है। और जब श्रीराम ने बालि पर बाण से प्रहार किया और फिर उसके सामने आये, तो वह भी श्रीराम से यही प्रश्न करता है – अवतार तो आपका धर्म के लिए हुआ है, पर आपने मुझे अधर्म से मारा –

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं ।
मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ।।

इससे तो लगता है कि रावण की भी धर्म के प्रति कितनी बड़ी आस्था है! बालि भी स्वयं को इतना बड़ा धर्मज्ञ मानता है कि उसे श्रीराम की धर्मज्ञता में ही सन्देह हो जाता है। और वह उन्हीं पर आरोप लगा देता है कि आपका आचरण तो धर्म के अनुकूल नहीं है। तो इस प्रकार सर्वत्र यह 'धर्म' शब्द उन पात्रों के मुख से सुनने को मिलता है, जिन्होंने क्या-क्या नहीं किया! श्रीराम के वन-गमन में मुख्य हेतु जो मन्थरा है, वह भी तो यही कहती है। कैकेयीजी जब मन्थरा पर क्रुद्ध हो जाती हैं और कह देती हैं –

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी ।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी ।। २/१४/८

तो इस पर मन्थरा भी यही कहती है – "क्या करूँ, मैं तो धर्म से बँधी हुई हूँ। तुम्हारी सेविका हूँ और शास्त्र यही कहते हैं कि जिसकी सेवा करे, उसका अहित न होने दे –

अनभल देखि न जाई तुम्हारा ।
तातें कछुक बात अनुसारी । २/१६/७-८

मैं तो अब नहीं सह पाती। अब इसके बदले में यदि मुझे यही शब्द सुनने को मिल रहे हैं, मुझे इस प्रकार अपमानित किया जा रहा है, तो क्या करूँ, असत्य तो बोल नहीं

सकती, क्योंकि सत्य ही धर्म का सर्वश्रेष्ठ रूप है – **धर्म न दूसर सत्य समाना** – मैं क्या कहूँ। दुर्भाग्य की बात यह है कि झूठी बातें करनेवाले तो आपको अच्छे लगते हैं और मुझ जैसी धर्मप्रिय, धर्मात्मा सेविका आपको अप्रिय लगती है –

कहहिं झूठि फुरि बात बनाई ।
ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई ।। २/१६/३

रामायण में तो कोई ऐसा पात्र ही नहीं है जो धर्म के विरुद्ध हो। जब कैकेयी और महाराज दशरथ में संवाद होता है, तो वहाँ भी दशरथजी कहते हैं – मैं तो यह मानता हूँ कि सबसे बड़ा धर्म सत्य है और सत्य के नाते तुम विश्वास रखो, तुम जो कहोगी, उसे पूरा करूँगा। तो वे भी धर्म की बातें करते हैं और श्रीराम के वन-गमन का वरदान माँगते समय कैकेयी का आग्रह भी यही है। इसे सुनकर महाराज दशरथ व्याकुल हो जाते हैं, सन्तप्त हो जाते हैं और तब कैकेयी उनको याद दिलाती हैं – क्या हो गया आपको ! अभी-अभी तो आप सत्य की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। शास्त्रों से उद्धरण देते हुए कह रहे थे कि मैं सत्यवादी हूँ। सत्य की प्रशंसा करते हुए आपने कहा कि जो माँगोगी, वह दूँगा। तो क्या आपको विश्वास था कि कैकेयी भुने हुए चने माँग लेगी –

सत्य सराहि कहेहु बर देना ।
जानेहु लेइहि मागि चबेना ।। २/३०/६

कहती हैं – आपको यह तो सोचना था कि क्या संसार की सारी वस्तुएँ इसे प्राप्त नहीं हैं? कैकेयी कोई ऐसी वस्तु माँगेगी, जो उसे प्राप्त नहीं है। तो फिर आप क्या समझकर सत्य की प्रशंसा कर रहे थे? आपका जन्म रघुवंश में हुआ। आप सत्यवादी हैं और मैं नहीं चाहती कि आपका आचरण धर्म के प्रतिकूल हो। एक महान् रघुवंशी, एक महान् सत्यवादी यदि इस प्रकार से कार्य करे, जिससे उसका जीवन कलंकित हो जाय, तो यह कितने अनर्थ की बात होगी –

सत्यसंध तुम रघुकुल माहीं । २/३०/४

बात इस सीमा तक पहुँच जाती है और जब दशरथजी को लगने लगा कि कैकेयी तो अपने हठ पर दृढ़ है और अब तो बस एक ही उपाय है – वे मुझसे बहुत स्नेह करती ही हैं, पतिव्रता हैं, तो बस एक ही भय इनको इस कार्य से रोक सकता है और वह है मेरी मृत्यु का भय। और उन्होंने यही कहा – यदि तुमने दूसरे वरदान के लिए आग्रह किया, तो फिर राम के वियोग में मेरी मृत्यु अनिवार्य है। इस प्रकार मानो उन्होंने अपने अन्तिम कवच का प्रयोग किया।

परन्तु यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि दशरथजी ने कैकेयीजी को जो दो वरदान देने के लिए कहा था, वह शरीर की रक्षा को लेकर ही था। यदि कैकेयीजी ने दो अँगुलियाँ न लगाई होती, तो रथ का चक्का गिर पड़ता और महाराज दशरथ को चोट आती। पर कैकेयी ने महाराज दशरथ की रक्षा के लिए जिन दो उँगलियों से चक्के को गिरने से रोका, उसी के बदले में उन्होंने जो दो वरदान दिये, तो वे आशा करते थे कि मेरे शरीर की रक्षा के लिए इन्होंने इतना साहस किया, तो मेरी मृत्यु की समस्या आ जायेगी, तब तो ये स्वयं ही शान्त हो जायेंगी। परन्तु कैकेयी अत्यन्त निष्ठुर हो गई और धर्म का पक्ष लेकर निष्ठुर हो गई।

वह बोली – महाराज, ठीक है, आप मुझे मृत्यु का भय दिखाना तो चाहते हैं, परन्तु मैं बता देना चाहती हूँ कि वह समस्या केवल आपके ही नहीं, मेरे सामने भी है। आप कहते हैं कि राम यदि वन जायेंगे, तो मेरी मृत्यु हो जायेगी। और मैं यह भी स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि प्रात:काल होते ही राम यदि वन नहीं गये, तो मेरी मृत्यु हो जायेगी।

महाराज दशरथ मौन है। भारतीय समाज तथा संस्कृति में परम्परा के अनुसार सारे देश में स्त्रियाँ बहुधा यह चाहती हैं कि उनकी मृत्यु पहले हो और पति जीवित रहें। परन्तु इधर दशरथजी कहते हैं कि राम वन जायेंगे तो मेरी मृत्यु होगी। और कैकेयीजी कहती हैं कि यदि नहीं जाते और जाने में जरा भी विलम्ब हुआ तो मेरी मृत्यु अनिवार्य है। तो उनसे पूछा जा सकता है कि आप दोनों में से किसकी मृत्यु चाहेंगी? तो वे सीधे नहीं कहतीं, उनसे पूछा भी नहीं गया। पर कितना निर्दयता-भरा वाक्य था। और उसका तात्पर्य यही था –मृत्यु तो आपकी ही होनी चाहिए। बड़ा भयानक अर्थ लगता है –

होत प्रातु मुनिवेष धरि जौं न रामु बन जाहिं ।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ।। २/३३

जरा इस भाषा पर विचार करके तो देखिए। संकेत क्या है? यदि मेरी मृत्यु हो गई, तो न केवल मेरे प्राण जायेंगे, आपको कलंक भी लगेगा। और मैं भला कैसे चाह सकती हूँ कि आपको कलंक लगे? नहीं, मैं तो चाहती हूँ कि आपको यश ही मिले। शरीर तो मिटने ही वाला है, पर यश-शरीर तो अमर है। जब आप वरदान देकर शरीर छोड़ देंगे, तो आपकी कीर्ति अमर हो जायेगी। मैं कैसे चाह सकती हूँ कि आपको कलंक लगे। शास्त्र तो यही कहते हैं – **कीर्तिः यस्य स जीवति** – जिसकी कीर्ति रहती है वे ही जीवित रहते हैं। और सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश की प्राप्ति तो करोड़ों मृत्युओं के समान भयंकर पीड़ा देने वाली है –

संभावित कहुँ अपजस लाहू ।
मरन कोटि सम दारुन दाहू ।। २/९५/७

कैसा बढ़िया धर्म है ! महाराज दशरथ के धर्म की कितनी चिन्ता है कैकेयीजी को ! उनके वाक्य तो शास्त्रों के हैं, पर वे उन्हें घुमाकर कहती हैं कि मैं तो आपकी कीर्ति की रक्षा के लिए व्यग्र हूँ, मैं नहीं चाहती कि आपको कलंक लगे। तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप धर्म को चाहे जितना तोड़-मरोड़कर अपने लिए उसका कवच बना सकते हैं, दूसरे से

कह सकते हैं कि तुम प्राण दे दोगे, तो अमर हो जाओगे। अब यदि कोई व्यक्ति अपने विषय में सोचे कि मैं प्राण देकर अमर हो जाऊँ, तो वह एक बात है। परन्तु किसी दूसरे को मौत के मुँह में ढकेलना कि 'चलो, चलो, मर के अमर हो जाओगे।' तो इस प्रकार 'धर्म' शब्द का दुष्प्रयोग हुआ है, और प्रत्येक काल में, प्रत्येक युग में हुआ है।

द्वापर युग में देखें, तो सब कुछ 'धर्म' के ही नाम पर हुआ है। महाराज युधिष्ठिर, जो उस युग के धर्मराज थे। उस युग में जिन्हें सबसे बड़ा धर्मात्मा माना जाता था। वे भी मानते थे कि यदि किसी राजा को जूआ खेलने का निमंत्रण दिया जाय, तो उसका धर्म है कि वह उसे स्वीकार करे और यदि वह नहीं खेलता, तो वह अधार्मिक है। और महाभारत के जितने भी पात्र हैं, सभी बड़े धर्मात्मा हैं और सभी धर्म के लिए ही संघर्ष करते हैं, जिसका परिणाम होता है महाविनाश।

परन्तु इस 'धर्म' शब्द का वस्तुत: क्या तात्पर्य है? धर्म का सच्चा अभिप्राय क्या है? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर यदि हम सचमुच पाना चाहें और उससे भी अधिक आप 'धर्म' का सही स्वरूप समझना चाहें, तो वह आपको भरतजी के चरित्र में मिलेगा। और भगवान श्रीराम ने प्रारम्भ से ही जो एक परिपूर्ण समाज की स्थापना की, जिसे 'रामराज्य' कहा गया, उसमें श्रीराम का नाम तो जुड़ा ही हुआ है, पर यदि आप गहराई से विचार करके देखें कि रामराज्य की स्थापना में यदि किसी की सबसे उत्कृष्ट भूमिका है, जिनके बिना रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती, तो वे पात्र श्रीभरत ही हैं। और आप देखेंगे कि भगवान राम जिसे 'धर्म' का स्वरूप मानते हैं, उसे अपने चरित्र के द्वारा समाज में क्रियान्वित करनेवाले यदि कोई व्यक्ति हुए हैं, तो वे एकमात्र भरतजी ही हैं।

भरतजी ने धर्म के रहस्य को ठीक-ठीक समझा और उसे अपने जीवन में यथार्थ रूप से चरितार्थ करके दिखाया। इसीलिए आप उस दृश्य की ओर ध्यान दें, जहाँ श्री वशिष्ठ और भरतजी का संवाद होता है। महाराज दशरथ की मृत्यु हो चुकी है। उसके बाद गुरु वशिष्ठ दूतों को आदेश देते हैं कि भरत को बुलाकर लाया जाय, पर उन्हें कुछ बताया न जाय। उसके ननिहाल में भी न बताया जाय कि महाराज की मृत्यु हो गई है। बस, इतना ही कहा जाय कि गुरुदेव ने बुलाया है। दूत जाते हैं। समाचार मिलते ही भरत अश्व पर आरूढ़ होकर अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं।

इस बीच अयोध्या में जो कुछ हुआ, वह सब सत्य और धर्म के नाम पर ही तो हुआ। मन्थरा भी सत्य की दुहाई देती है, कैकेयीजी भी सत्य की दुहाई देती हैं और महाराज दशरथ भी सत्य की प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार सबका जो मूल केन्द्र है, वह सत्य है। और शास्त्रों में यह बात बार-बार दुहराई गई है और 'मानस' में भी कहा गया है –

धर्म न दूसर सत्य समाना ।।

तो अयोध्या में यह जो कुछ घटित हुआ, उसके मूल में धर्म था। और **उस युग के धर्म के सर्वोत्कृष्ट व्याख्याता थे – गुरु-वशिष्ठ।** वशिष्ठजी ब्रह्मा के पुत्र हैं, महानतम ब्रह्मर्षि हैं, वेदों के ज्ञाता हैं और सूर्यवंश की परम्परा में जिनके निर्णय को, जिनके आदेश को ही धर्म मानकर स्वीकार किया जाता रहा है, वे गुरु वशिष्ठ ही हैं। और प्रारम्भ की सभा में ही स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की व्याख्या को लेकर गुरु वशिष्ठ और भरतजी में भी मत की भिन्नता थी। यह जो मतभेद है, उसका जो अन्तिम समापन हुआ, वह तो इतना अद्भुत हुआ कि गुरु वशिष्ठ ने अन्त में जो कुछ श्रीभरत के लिए कहा, वह अन्य पात्रों की तो कोई बात ही नहीं, स्वयं श्रीराम के लिए भी उन्होंने नहीं कहा।

आगे कहा गया – गुरु वशिष्ठ की मान्यता थी कि विश्व-इतिहास में महाराज दशरथ से बढ़कर कोई धर्मात्मा हुआ ही नहीं और होगा भी नहीं। जब महाराज दशरथ का अन्तिम कृत्य सम्पन्न हो गया और उसके बाद जो सभा बुलाई जाती है, उसमें गुरु वशिष्ठ जो भाषण देते हैं, उसमें वे चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के 'धर्म' की व्याख्या करते हैं। बड़े संक्षेप में और बड़े सुन्दर ढंग से उन्होंने वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म की व्याख्या की। उनकी व्याख्या युक्तिसंगत थी। इसमें वे भूमिका बताने के बाद क्रमश: अपनी मूल बात पर आते हैं, भरतजी से कहते हैं – ऐसा जो महान् धर्म है, उसे तुम्हारे पिता ने कितना महत्त्व दिया! वे बोले – महाराज श्रीदशरथ को राम से बढ़कर कोई प्रिय नहीं था। पर धन्य हैं तुम्हारे पिता! इतने बड़े धर्मात्मा थे कि सत्य के लिए उन्होंने श्रीराम को भी वन भेजने में संकोच नहीं किया। आज तक किसी व्यक्ति ने ऐसा नहीं किया होगा।

उन्होंने यह भी कहा, – यदि दूसरों ने भी सत्य और धर्म के लिए ऐसा त्याग किया होता, तो भी उनसे दशरथजी की तुलना नहीं हो सकती। – क्यों? – इसलिए कि एक ओर जहाँ वे महान् धर्मात्मा हैं, तो दूसरी ओर महान् प्रेमी भी हैं। प्रेमी तो वे ऐसे हैं कि एक ओर जहाँ उन्होंने सत्य के लिए राम का त्याग किया, तो दूसरी ओर राम के लिए प्राण तक का त्याग कर दिया। इतना बड़ा त्याग तो और अन्य किसी ने किया ही नहीं। धर्म और प्रेम का इस प्रकार निर्वाह करनेवाला कोई दूसरा तो हुआ ही नहीं –

भयउ न अहइ न अब होनिहारा ।
भूप भरत जस पिता तुम्हारा ।। २/१७३/६
तजे रामु जेहिं बचनहिं लागी ।
तनु परिहरेउ राम बिरहागी ।।
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना ।
करहु तात पितु बचन प्रवाना ।। २/१७४/४-५

इस प्रकार वशिष्ठजी ने पहले तो यह बताया कि तुम्हारे पिता महाराज श्रीदशरथ कितने महान् धर्मात्मा थे ! इसके बाद वे काम की बात पर आते हैं – "देखो, ऐसे महान् तुम्हारे धर्मात्मा-पिता ने राम को आज्ञा दी और राम उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करके तत्काल वन को चले गये। तो तुम्हारे महान् पिता तथा वन्दनीय भ्राता ने भी 'धर्म' को ही माना और इसी कारण वन चले गये। लेकिन भरत, तुम्हारे पिताजी की एक आज्ञा अभी शेष है। और उसकी परिपूर्णता अब इसी में है कि तुम अयोध्या का राज्य स्वीकार करो।" और बड़े सन्तुलित ढंग से उन्होंने यह भी कहा – "मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदय में राज्य का कोई प्रलोभन नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि श्रीराम के प्रति तुम्हारे हृदय में महान् प्रेम है। और इसके लिए मैं तुम्हें एक सुझाव देता हूँ। ऐसा करो कि तुम पिता की आज्ञा से राज्य स्वीकार कर लो, तो उससे धर्म का उद्देश्य पूरा जायेगा और राज्य स्वीकार करने के बाद चौदह वर्ष तक तुम अयोध्या का राज्य चलाओ और श्रीराम जब लौटकर आयें, तो तुम स्वतंत्र हो। महाराज अपनी वस्तु किसी को देने के लिए स्वतंत्र थे। उन्होंने जब तुम्हें दिया, तो तुम्हें ले लेना चाहिए। जब राज्य तुम्हारा हो जायगा, तो तुम स्वतंत्र हो जाओगे। और मेरा सुझाव यह है कि जब राम लौट आयें, तो तुम राज्य उन्हें अर्पित कर देना और स्नेहपूर्वक उनकी सेवा करना –

सौंपेहु राजु राम के आएँ।
सेवा करेहु सनेह सुहाएँ ।। २/१७५/८

जिस प्रकार तुम्हारे पिता ने धर्म और भावना – दोनों का समन्वय किया, दोनों की रक्षा की, वैसे ही तुम भी अपने जीवन में इन दोनों का सामंजस्य करो।

बात सचमुच बड़ी युक्तिसंगत थी और सभी लोगों को उचित लग रही थी। सचमुच ही गुरु वशिष्ठ का यह भाषण इतना सन्तुलित है कि उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका खण्डन किया जा सके।

पर एक बात और थी। वहाँ मंत्रीगण बैठे थे, उन्हें वशिष्ठ जी की बात तो प्रिय लगी, पर उनके मन में एक बात खटकी – "अब गुरुजी ने जो यह कहा कि चौदह वर्ष राज्य चलाने के बाद इसे लौटा देना, तो शायद यह ठीक नहीं है।" वे लोग विश्व-इतिहास से परिचित थे कि एक बार सत्ता मिल जाने पर, सिंहासन पर बैठने के बाद भला कौन उसे छोड़ने की सोचता है? "तो गुरुजी ने जो यह कह दिया कि चौदह बरस के बाद लौटा देना। यह बात शायद भरत को भी भीतर से अच्छी न लगी हो। और आगे चलकर यह कहीं भरत के लिए संकट बन जाय कि आज वचन दे दें कि हाँ, चौदह वर्ष बाद मैं राज्य लौटा दूँगा। वचन देकर जब सत्ता आती है, तो वचन एक ओर धरा रह जाता है।" तो मंत्रियों ने बड़ी चतुराई की भाषा का प्रयोग किया। वे खड़े होकर बोले – भरतजी ! सत्य, धर्म, पिता की आज्ञा और अब तो गुरुदेव की आज्ञा भी हो गई –

कीजिअ गुर आयसु अवसि
कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आएँ उचित जस
तस तब करब बहोरि ।। २/१७५

मंत्रियों ने बड़ी चतुराई से उसमें संशोधन कर लिया ! गुरुजी ने कहा – राज्य दे देना और ये लोग बोले – "अब भविष्य की बात का निर्णय आज ही क्यों किया जाय? श्रीराम के आने पर, जैसा उचित होगा, देख लिया जायेगा।" एक मार्ग उन्होंने भरतजी के लिए रख लिया – चौदह वर्ष बाद भी यदि इच्छा हो, तो सिंहासन पर बैठे रहिएगा।

स्नेहमयी क़ौशल्या अम्बा तो बड़े ध्यान से भरत की ओर देख रही थी और उन्हें लग रहा था कि भरत को इन प्रस्तावों से कोई प्रसन्नता नहीं हो रही है। वे बड़े व्याकुल हो रहे हैं। और तब वे बड़े स्नेह-भरे स्वर में बोलीं – भरत, मैं तुम्हारी भावना समझती हूँ, परन्तु तुम तो जानते ही हो कि वैद्य का बताया हुआ पथ्य रोगी के लिए कभी स्वादिष्ट नहीं होता।

बम्बई में अभी ऐसी ही बात हुई। डॉक्टर से पूछा गया कि भोजन आदि में क्या लेना है, तो वे बड़े विनोदपूर्वक मुझसे बोले – "बस एक ही सूत्र है – जो अच्छा न लगे, वही खाइए।" मुझे तो बड़ी हँसी आई। हम जिन वस्तुओं के अभ्यस्त होते हैं, बहुधा वही सुस्वादु लगता है। और पथ्य तो वह होगा कि उन वस्तुओं को छोड़कर कोई भिन्न वस्तु ली जाय। तो कौशल्या अम्बा ने तत्काल कहा –

पूत पथ्य गुर आयसु अहई ।। २/१७६/१

– भरत, मैं स्पष्ट देख रही हूँ कि गुरुदेव की आज्ञा तुम्हें प्रिय नहीं लग रही है, पर यह तो पथ्य है और तुम जानते हो कि जैसे शरीर में रोग होता है, वैसे ही आज पूरी अयोध्या रोगी है। राम-वियोग का रोग सबको पीड़ित किये हुए है। अब गुरुदेव तो वैद्य हैं। उनकी बात सबको माननी होगी। वैद्य की बात अच्छी लगती है या नहीं, इसका तो प्रश्न ही नहीं है।

उस सभा के पूरे विवरण को पढ़कर बड़े आनन्द का अनुभव होता है। कैसी किसकी भावना है, मंत्रियों की कैसी राजनैतिक सूझ-बूझ है, माँ का वात्सल्य और सबके द्वारा एक स्वर से आग्रह किया जा रहा है कि भरतजी राज्य को स्वीकार कर लें। बाद में जब भरतजी उत्तर देने को खड़े हुए और उनके मुँह से जो पहला वाक्य निकला, तो प्रत्येक को यही प्रतीत हुआ कि वे राज्य स्वीकार करने जा रहे हैं।

इसके पीछे एक पृष्ठभूमि थी और वह पृष्ठभूमि यह थी कि श्रीराम के वन जाने में किसका षड्यंत्र है? अयोध्या का एक बहुत बड़ा वर्ग मानता था कि – मन्थरा तथा कैकेयी के साथ ही इसके पीछे भरत का भी हाथ है।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ४५ –

दाता एक राम, भिखारी सारी दुनिया

कई सौ वर्ष पहले की बात है। उन दिनों दिल्ली की गद्दी पर बादशाह अकबर का अधिकार था और सारे भारत में उन्हीं की तूती बोलती थी। राजधानी के पास के ही जंगल में कहीं एक छोटी-सी कुटिया बनाकर एक फकीर-महात्मा भी निवास करते थे। उन फकीर की कुटिया में बहुत-से लोग आया-जाया करते थे। परन्तु फकीर तो अकिंचन थे, अत: वे अतिथि-आगन्तुकों की समुचित सेवा-सत्कार नहीं कर पाते थे। उनके मन में इसके लिए बड़ा खेद भी था। वे प्राय: ही सोचा करते कि कैसे यहाँ आनेवाले लोगों की भलीभाँति सेवा हो। इसके लिए उन्हें कुछ रुपये-पैसों की जरूरत थी, परन्तु सवाल यह था कि वे रुपये कहाँ से प्राप्त किये जायँ! एक दिन उन्हें इस समस्या का सहज-समाधान भी सूझ गया। उन्होंने सोचा कि पास ही राजधानी में रहनेवाले बादशाह अकबर के पास तो अथाह दौलत है। जाकर उसी से थोड़े रुपये माँग लूँ। बस, इसी से तो मेरी समस्या मिट जायेगी।

फकीरों तथा साधु-महात्माओं के लिए बादशाह के द्वारा हमेशा खुले रहते थे। राजमहल के कर्मचारियों ने फकीर का स्वागत किया और जाकर बड़े सम्मान के साथ एक आसन पर बैठा दिया। फकीर ने देखा कि अकबर शाह भी थोड़ी दूरी पर बैठे नमाज पढ़ रहे हैं और भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं। बादशाह ने इशारा किया – बस, जरा-सी देर में आ रहा हूँ। फकीर वहीं बैठे-बैठे इन्तजार करने लगे।

दूरी ज्यादा न होने के कारण बादशाह की प्रार्थना की आवाज फकीर के कानों में भी पड़ने लगी। उन्होंने सुना, अकबर शाह कह रहे थे – "ऐ खुदा, तू मुझे और भी दौलतमन्द बना, मेरे साम्राज्य का विस्तार कर, मेरी खुशियों में इज़ाफा कर, आदि आदि" – और भी इसी तरह की कितनी ही चीजों के लिए खुदा से दुआएँ माँगने लगे।

फकीर ने जब यह सब सुना, तो वे वहाँ से उठकर चलने की तैयारी करने लगे। शाहंशाह अकबर ने देखा तो वहीं से फिर बैठने के लिए इशारा किया।

अपनी इबादत और नमाज पूरी करने के बाद बादशाह ने आकर महात्मा से पूछा – "आप तो मुझसे मिलने के लिए आये थे, लेकिन बिना मिले ही क्यों उठकर जा रहे थे?"

फकीर ने कहा – "तुमने नाहक ही मुझे रोक लिया। यह शाहंशाह के सुनने लायक बात नहीं है, मैं तो जाता हूँ।"

बादशाह के जिद करने पर फकीर ने बताया – "देखो, पास के जंगल में मेरी कुटिया है। वहाँ काफी लोग आते हैं, उन्हीं की सेवा के लिए तुमसे कुछ रुपये माँगने आया था।"

अकबर बादशाह ने पूछा – "तो फिर चले क्यों जा रहे थे?"

फकीर बोले – "जब मैंने देखा कि तुम भी धन-दौलत और साम्राज्य के भिखारी हो, तो फिर सोचा कि जब भीख ही माँगनी है, तो इस भिखारी के सामने हाथ क्या फैलाऊँ, सीधे खुदा से ही क्यों न माँग लूँ! इसीलिए जा रहा था।"

इस दुनिया में चाहे किसी को कितना भी धन-दौलत या मान-सम्मान क्यों न मिल जाये, परन्तु व्यक्ति की कामनाएँ कभी सन्तुष्ट नहीं होतीं। एक कामना की पूर्ति हुई, तो दूसरी हजारों सिर उठाकर खड़ी हो जाती हैं। इसीलिए इस दुनिया में कोई भी सन्तुष्ट नहीं है, सभी अभावग्रस्त हैं, सभी भिखारी हैं, सभी कुछ-न-कुछ की आशा रखते हैं। केवल परमात्मा ही मनुष्य को 'सन्तोष'-रूपी परम धन देकर उसके अभाव घटा या मिटा सकता है। कहा भी है – 'जब आवे सन्तोष-धन, सब धन धूरि समान।'

– ४६ –

भेड़ में नारायण-दर्शन

एक व्यक्ति की किसी साधु से भेंट हुई। उसने अत्यन्त विनयपूर्वक साधु से उपदेश की याचना की। साधु बोले – "भगवान से प्रेम करो।"

इस पर उस व्यक्ति ने कहा – "मैंने भगवान को न तो देखा है और न उनके विषय में कुछ जानता ही हूँ, तो फिर उनसे प्रेम भला कैसे कर सकूँगा?"

साधु ने पूछा – "अच्छा बताओ, इस दुनिया में तुम्हारा किसी से भी प्रेम-सम्बन्ध है क्या?"

वह बोला – "बचपन में ही माँ-बाप मर गये और भाई-बहन कोई नहीं है। इस दुनिया में मेरा कोई भी नहीं है। दिन भर मेहनत-मजदूरी करके पेट पालता हूँ। घर में केवल एक भेड़ मात्र है। केवल उसी के साथ मेरा लगाव है।"

साधु बोले – "तो ठीक है। भगवान तो गीता में कहते हैं कि मैं सभी प्राणियों के हृदय में विद्यमान हूँ। उस भेड़े के भीतर ही भगवान नारायण विराजमान हैं, यह समझकर उससे प्रेम और हृदय से उसकी सेवा करो।"

इसके बाद वे साधु उस गाँव से चले गये। वह व्यक्ति उनकी बातों पर सोलह आने विश्वास करके ईश्वर-ज्ञान से भेड़ की सेवा करने लगा। वह बड़े प्रेम से उसे नहलाता-धुलाता और खूब श्रद्धा के साथ उसके भोजन की व्यवस्था करता।

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गये। वे महात्मा एक बार फिर उसी गाँव के मार्ग से होकर कहीं जा रहे थे। जिज्ञासावश उन्होंने उस व्यक्ति के बारे में पूछताछ की और उसकी कुटिया में जा पहुँचे। उस व्यक्ति ने महात्मा को प्रणाम किया और यथासाध्य उनका स्वागत-सत्कार किया। महात्मा ने पूछा – "कहो जी, क्या हाल-चाल है?"

वह बोला – "गुरुदेव, आपकी कृपा से बड़े मजे में हूँ। आपके उपदेशों का पालन करने के बाद से मेरा असीम उपकार हुआ है। कुछ काल से मुझे अपनी भेड़ में एक अपूर्व मूर्ति का दर्शन होता है। देखता हूँ – उनके चार हाथ हैं। उस दर्शन को पाकर मैं निहाल हो जाता हूँ, परम आनन्द में डूब जाता हूँ।"

सर्वभूतों में वे ही विराजमान हैं। इस सत्य पर बालक की भाँति सरल विश्वास और हृदय में निष्कपटता होने से ही भगवान की प्राप्ति होती है।

– ४७ –

ज्ञान की व्यावहारिकता

एक बार किसी राजा को उसके गुरु ने सर्वोच्च अद्वैत-तत्त्व का उपदेश देते हुए बताया, "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म** – यह जो कुछ दिखता है, वह सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्म में ही सब है और सभी में ब्रह्म है।" राजा को यह अद्वैत-सिद्धान्त खूब पसन्द आया। सभा से लौटकर वह रानी से बोला – "आज गुरुदेव ने बड़े उच्च तत्त्व की बात कही। सब कुछ ब्रह्म ही है। आज से कहीं भी भेदभाव करने की आवश्यकता नहीं। मेरे लिए तो अब रानी और दासी में कोई भेद नहीं रह गया है। रानी ही दासी है और दासी ही रानी है।"

यह सब सुनकर महारानी तो सन्न रह गयी। "इससे तो बड़ी अव्यवस्था फैल जायेगी" – ऐसा सोचकर वह घबड़ा गई। उसने भी गुरुदेव से दर्शन की अनुमति माँगी। गुरुदेव के आने पर महारानी ने उनसे सारी बातें स्पष्ट रूप से बताते हुए कहा – "महाराज, आपके इस उपदेश से तो नीति और सदाचार के लिए तो कोई जगह ही नहीं रह जायेगी। हमारे परिवार, समाज तथा राज्य का सर्वनाश हो जायेगा।"

गुरुदेव बोले – "ठीक है। तुम चिन्ता मत करो। भोजन के समय राजा को अन्य व्यंजनों के साथ एक पात्र में थोड़ा-सा गोबर भी परोस देना। मैं भी राजा के साथ ही तो भोजन करूँगा!" रानी ने उनके आदेश का पालन किया।

रात के समय राजा अपने गुरुदेव के साथ भोजन के लिए बैठे। अपने भोजन की थाल में अन्य व्यंजनों के साथ ही एक कटोरे में गोबर रखा हुआ देखकर राजा का पारा चढ़ गया। क्रोध से उनके होठ फड़कने लगे। गुरुदेव चुपचाप सब देख रहे थे। राजा के मुँह खोलने के पहले ही वे बोल उठे – "महाराजा, तुम तो अद्वैत-तत्त्व के ज्ञान में पारंगत हो! जब सब कुछ एक ब्रह्म ही है, तो फिर अन्न-व्यंजन तथा गोबर में भेदभाव क्यों करते हो?" इस पर राजा झल्ला उठे। वे भड़ककर गुरुदेव से बोले – "यदि ऐसी बात है, तो फिर आप ही क्यों नहीं इस गोबर को खा डालते!"

गुरुदेव ने कहा – "अच्छी बात है।" उन्होंने तत्काल सूअर का रूप धारण किया और बड़े आनन्दपूर्वक उस गोबर को खाने लगे। गोबर खाकर डकार लेने के बाद गुरुदेव ने पुन: अपना मानव-रूप धारण कर लिया। राजा यह देखकर दंग ही रह गया, लज्जित भी हुआ। उसने गुरुदेव से क्षमा माँगी और रानी के सामने भूलकर भी कभी वैसी बात नहीं कही।

नीम हकीम खतरे जान! अल्प ज्ञान बड़ा भयंकर होता है! कुछ लोग आध्यात्मिक ज्ञान का भी अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने का प्रयास करते देखने में आते हैं। जैसे तबले या मृदंग के बोल मुँह से निकालना तो बड़ा आसान है, परन्तु उसे वाद्ययंत्र पर बजाना कठिन है, वैसे ही धर्म तथा तत्त्व की बातें कहना तो सरल है, किन्तु आचरण में लाना कठिन।

अद्वैत-ज्ञान केवल मुँह से कहने भर की बात नहीं है, उसकी अनुभूति होनी चाहिए। 'भाँग-भाँग' – कहकर चाहे कोई जितना भी क्यों न चिल्लाए, उससे नशा नहीं चढ़ेगा। नशे के लिए तो पहले भाँग को लाना पड़ता है और फिर उसे घोटकर पीना पड़ता है, तभी नशा चढ़ता है। केवल 'ब्रह्म, ब्रह्म' रटने से क्या लाभ? उसकी अनुभूति करने के लिए नियमानुसार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना पड़ता है, तभी क्रमश: चित्तशुद्धि और अन्तत: सिद्धि मिलेगी।

❖(क्रमश:)❖

आप भी महान बन सकते हैं (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(सन्त गजानन महाराज अभियांत्रिक महाविद्यालय, शेगाँव (महाराष्ट्र) के अनुरोध पर १९९५ की जुलाई महीने में वहाँ के छात्रों के लिये अंग्रेजी में 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर द्विदिवसीय कार्यशाला आयोजित की गई थी। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने स्व-संचालित कार्यशाला में जो व्याख्यान दिया, उसकी उपयोगिता को देखकर उक्त विद्यालय ने उसे 'You Can Become A Better Person' नाम से छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया। यह पुस्तिका युवक-युवतियों में बहुत लोकप्रिय हुई तथा इसके कई संस्करण निकले। हिन्दी भाषी युवक-युवतियों को भी यह विषय सुलभ हो सके, इसलिये उसी आश्रम के अन्तेवासी स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

मानव जीवन का चरम लक्ष्य

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि हम क्यों इस आत्मा को लेकर झंझट में फँसें? उत्तर यह है – आत्मा या चेतना हमारे जीवन का मूल आधार है। हमारे देश के महान ऋषि-मुनि और सभी शास्त्र हमें बताते हैं कि आत्मा सर्वआयामी है। यह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। वे कहते हैं कि जो भी इस आत्मा का साक्षात्कार करता है, अनुभव करता है, वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हो जाता है। मित्रो ! ऐसा कौन व्यक्ति है, जो सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ होना नहीं चाहता? अत: यही मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है।

स्वयं से भी तो मिलें

अब हम कुछ व्यावहारिक बातों पर चर्चा करेंगे, जो हमें एक श्रेष्ठतर व्यक्ति बनने में, एक महान व्यक्ति बनने में सहायक होंगी। कुछ देर के लिए अपने सभी कार्यक्रमों और व्यस्तताओं को एक ओर रखकर सप्ताह में एक बार कम-से-कम एक घंटे के लिए स्वयं को अपने कमरे में बंद कर लें या पेंसिल और नोट-बुक के साथ एकान्त स्थान में चले जायँ। शान्ति से बैठें। निश्चिन्त हो जायँ कि हमें यहाँ कोई भी बाधा नहीं पहुँचायेगा।

(१) स्वयं से साक्षात्कार करें

अब अपने जीवन से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों को अपने आप से पूछें। सर्वप्रथम अपने आप से पूछें कि हम जीवन में चाहते क्या हैं या हम स्वयं क्या बनना चाहते हैं? अपने प्रश्नों के उत्तर पूर्णत: प्रामाणिकता पूर्वक दें। आपके मन से जो भी उत्तर मिलता है, उसे अपने नोट-बुक में लिख लें। कभी भी अपने मन को दबाने का प्रयास न करें। आपका मन जितना उत्तर दे सकता है, उतना उसे देने दें। आप केवल उसे नोट-बुक में लिखते जाइये। इसे जितना विस्तार से हो सकता है करें। यह सब एक बैठक में ही समाप्त न कर लें। जब तक इससे सम्बन्धित आपके प्रश्नों के सभी उत्तर नहीं मिल जाते, तब तक कई बार बैठें।

(२) मैं चाहता क्या हूँ?

अब आपके पास परीक्षण कर देखने के लिए एक निश्चित और आधारभूत तथ्य है, जो आपके जीवन की गुणवत्ता का विकास करेगा और आपको एक श्रेष्ठतर व्यक्ति, एक महान व्यक्ति बनायेगा। अपने मन द्वारा दिये गये सभी उत्तरों को एक-एक करके परीक्षण करें और देखें कि आप वस्तुत: क्या बनना चाहते हैं या अपने जीवन का निर्माण कैसा करना चाहते हैं? अपने आप से पूछें कि आप वैसा व्यक्ति क्यों बनना चाहते हैं, जो बनने की आप अभिलाषा रखते हैं। एक आदर्श व्यक्ति के आदर्श और योग्यता की कसौटी पर दैहिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से अपने चयनित आदर्श का परीक्षण करें। स्वयं से पूछें कि क्या यह आदर्श, यह लक्ष्य आपको नैतिक रूप से सशक्त और आध्यात्मिक रूप से परिपूर्ण बनायेगा? कोई भी आदर्श, लक्ष्य जो आपको नैतिक रूप से सबल और आध्यात्मिक रूप से परिपूर्ण नहीं बनाता, वह मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य बनने के योग्य नहीं है।

बहुत सावधानी रखें। अपने गुरुजनों से परामर्श लें, प्रेरणादायी पुस्तकों का अध्ययन करें और अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में वरण करने के पहले उसकी विधिवत् विवेचना कर परीक्षण करें।

(३) लक्ष्य प्राप्ति के साधन

आपके जीवन का लक्ष्य जो भी हो, किन्तु आपको सावधान रहना चाहिए कि यह लक्ष्य स्वार्थपर और इन्द्रियलोलुप आनन्द के निम्न स्तरीय विचारों द्वारा निर्देशित नहीं होना चाहिए।

जीवन के किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने में मन ही विशेष साधन है, फिर परम लक्ष्य की प्राप्ति का तो कहना ही क्या !

(४) बुद्धि

बुद्धि ही वह शक्ति है जो मन को नियंत्रित कर सकती है। हमारे दैनिक अनुभव हमारे सम्मुख इसे प्रकट करते हैं, हमें बताते हैं। कुछ बुरे कार्य करने की इच्छा हमारे मन से ही आती है और साथ-ही हम पाते हैं कि हमारे चित्त का दूसरा चिन्तन-शील भाग कहता है कि 'नहीं, हमें ऐसा नहीं करना चाहिए'।

लेकिन साधारणत: बुद्धि विवेकहीन होकर निम्न-इच्छाओं, क्षुद्र-कामनाओं के मद से मत्त रहती है। इससे छुटकारा कैसे पायें? अब यहाँ बुद्धि के उच्च एवं उत्कृष्टतर गुण आते हैं, जिन्हें हम विवेक कहते हैं। यह विवेक सर्वदा सक्रिय नहीं रहता है। अब साधक को इसे सक्रिय, क्रियाशील करना है।

विवेक को सक्रिय कैसे करें?

विवेक को सक्रिय करने की सबसे अच्छी पद्धति है सत्पुरुषों का संग करना, वैसे लोगों के साथ रहना जो सक्रिय रूप से अपने विवेक का उपयोग करते हैं।

विवेक के उपयोग के व्यावहारिक सोपान

(१) क्या इसके बिना मेरा काम नहीं चल सकता है?

जब भी कोई अवांछित कामनायें हमारे मन में आती हैं और इसकी पूर्ति के लिये हमें उद्वेलित या व्यग्र करती हैं तब हम स्वयं से यह पूछें – 'क्या इसके बिना मेरा काम नहीं चल सकता है?'

मान लें, आपके पास तीन जोड़े जूते हैं। आपने अभी देखा है कि आपके मित्र ने एक जोड़ा नया जूता खरीदा है। शीघ्र ही आपका मन कहता.है कि अपने पास भी वैसा ही जूता हो तो अच्छा है और आप उसके लिए प्रयास भी करते हैं। अब यही समय है विवेक के उपयोग करने का। अपने मन से पूछें – 'क्या इसके बिना मेरा काम नहीं चल सकता है?'

अधिकांश क्षेत्रों में आप यह पायेंगे कि उसके बिना भी आपका काम चल सकता है।

(२) अभी नहीं

आप अध्ययन करने बैठे हैं। आपने सड़क पर किसी सिनेमा-हॉल में प्रदर्शित होने वाले किसी फिल्म की घोषणा सुनी। प्रदर्शन प्रारम्भ होने में तीन घंटे की देर है। आप अपने मन से कहें कि 'अभी नहीं देखेंगे'। इसे कल के लिए छोड़ दें। आप पहले अपना पाठ पूरा करें।

(३) आज ही करें

शुरू में हमारा मन न केवल अवज्ञाकारी, बल्कि विद्रोही भी होता है इसलिये इसे आदेश या निर्देश न दें। मन को विवेक का परामर्श मानने के लिये प्रेरित एवं प्रोत्साहित करें।

अपने मन से कहें कि 'मैं आज यह करूँगा' और 'यह नहीं करूँगा'। हम सदैव यह ध्यान रखें कि 'कल' का सदुपयोग तभी हो पायेगा, जब वह 'आज' बन जायेगा। यदि हम अपने मन को ऐसा सुझाव देंगे कि 'आज' के करणीय कार्य को मैं 'कल' करूँगा तथा अनुचित कार्य को 'कल' से नहीं करूँगा तो वह 'कल' कभी नहीं आयेगा और हम कभी अपने मन का नियंत्रण करने में समर्थ नहीं हो पायेंगे। इस प्रकार हम कभी भी एक श्रेष्ठतर व्यक्ति, एक महान व्यक्ति नहीं बन पायेंगे।

(४) क्षण भर तो ठहरें

बीच-बीच में स्वयं से कहें – 'थोड़ी देर तो ठहरो' तथा इन क्षणों में अपने मन के विचारों, इच्छाओं और अन्य क्रिया-कलापों का निरीक्षण करें। यह अभ्यास हमारे मन पर दृष्टि रखेगा तथा उसे भटकने से रोकेगा।

मन अति सुझाव-प्रवण होता है

अपने मन को यह सुझाव देते रहें – 'मैं अच्छा तो हूँ ही, मुझे और अधिक अच्छा होना है, मुझे महान बनना है।'

अपने मन की प्रवणशील अवस्था में हम उसे जो कुछ भी सुझाव देते हैं, वह उसे ग्रहण कर लेता है तथा उन सुझावों को हमारे अवचेतन मन में भेज देता है और अवचेतन मन हमारे चरित्र में यथोचित परिवर्तन कर देता है। इस पद्धति को हम 'आत्मनिर्देश' कहते हैं।

'आत्मनिर्देश' के अभ्यास का श्रेष्ठ समय होता है – ठीक सोने के पूर्व तथा प्रातःकाल नींद खुलते ही। इसका प्रयोग करें एवं इसकी परीक्षा करके देख लें।

महानता प्राप्ति के तीन सोपान

महान बनने के तीन सोपान हैं –

(१) धैर्य (२) अध्यवसाय (३) पवित्रता।

आपने अपने जीवन का जो भी लक्ष्य निर्धारित किया हो, ये सोपानत्रय ही वे साधन हैं, जो आपको लक्ष्य तक पहुँचा देंगे।

आपके जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में जो भी बाधायें आयेंगी, ये तीन सोपान ही उन बाधाओं को दूर करने में आपकी सहायता के लिए आयेंगे। अचल पर्वत-सदृश बिघ्नों के मध्य में ये ही आपके लिए मार्ग प्रशस्त करेंगे।

अब हम उपरोक्त सोपानत्रय के सम्बन्ध में थोड़ा अधिक जानने का प्रयास करें। हम कह सकते हैं कि धैर्य और अध्यवसाय एक ही सिक्के के दो पहलू – 'सीधा-उल्टा' भाग हैं। अध्यवसाय – अर्थात् अनवरत चेष्टा करना, जिस कार्य का दायित्व हमने लिया है और उसे प्रारम्भ किया है, उसकी पूर्ति और लक्ष्य-प्राप्ति तक निरन्तर प्रयास करते रहना ही अध्यवसाय कहा जाता है। उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति समय-साध्य है।

जब तक व्यक्ति के हृदय में धैर्य नहीं होगा, तब तक वह हाथ में लिये हुए किसी भी काम में निरन्तर नहीं लगा रह सकता है। यदि वह कार्य के पूर्ण होने तक उसमें नहीं लगा रहेगा, तब तक भला वह कैसे लक्ष्य की उपलब्धि कर सकता है? इससे यह सिद्ध होता है कि बिना धैर्य के अध्यवसाय नहीं हो सकता।

दूसरी ओर बिना अध्यवसाय के धैर्य आलस्य में बदल जाता है, जो किसी भी सफलता या उद्देश्य-प्राप्ति का मृत्युकारक शत्रु है।

अब प्रश्न है कि यहाँ पवित्रता का क्या सम्बन्ध है? लक्ष्य-प्राप्ति में इसकी क्या उपयोगिता है?

शेष अगले पृष्ठ पर

आत्माराम की आत्मकथा (१२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

यमुनोत्री के मार्ग में

सुबह सात या साढ़े सात बजे सबके साथ यमुनोत्री की ओर रवाना हुआ। शरीर बहुत दुर्बल हो गया था। सुबह उन संन्यासी ने मुझे केवल एक कप चाय भर दी थी। इसीलिए मन में कोई उत्साह नहीं था, यंत्रवत् चला जा रहा था। अति कठिन रास्ता था, प्रति क्षण पैर फिसल कर नदी के गर्भ में पड़ने की सम्भावना थी। सभी बड़े कष्ट से चल रहे थे। मुझे तो और भी अधिक कष्ट हो रहा था। अन्न के बिना देह अब चल नहीं पा रही थी। रात में नाश्ते के समान बिल्कुल थोड़ी-सी खिचड़ी खाई थी। सोच रहा था कि उस पवित्र हिममण्डित गौरी के निवास-स्थान में यमुना के तट पर यह देह जायेगी। न जाने कितना समय हो गया था – मृतप्राय होकर वहाँ पहुँचा, जहाँ यमुना पहाड़ों के बीच से नीचे गिर रही थी, तीन ओर हिमाच्छादित पहाड़ थे और बीच में गहरी खाई थी। जहाँ यमुना की धारा पड़ रही थी, वहीं बड़ी सावधानी के साथ जा पहुँचा।

पहाड़ों के धँस जाने की वजह से एक जगह करीब सात-आठ फीट कूदकर नीचे उतरना पड़ा। पास जाकर देखा – बर्फ की भाँति ठण्डा यमुना के जल के पास ही गर्म पानी का कुण्ड है, जहाँ से पानी निकल कर यमुना से मिल रहा था। कितना सुन्दर और मनोहर वह दृश्य था! स्वच्छ यमुना के जल का झर-झर शब्द, श्वेत मुकुट-मण्डित पर्वतों के ऊपर सूर्य की किरणों की सुनहरी आभा – इन सबने मेरी थकान तथा भूख से पीड़ा की बात को भुला दिया और मन को हल्का कर दिया।

प्राणों में खूब उत्साह न होने के बावजूद फल्गु नदी के प्रवाह के समान मेरे अन्तर में आनन्द की धारा बहती जा रही थी। काफी देर तक बैठे-बैठे उस दृश्यावली को देखता रहा। फिर यमुना में डुबकी लगाकर जल्दी से गर्म पानी के कुण्ड में घुस गया। निकलने की इच्छा नहीं हो रही थी। करीब घण्टे भर उस कुण्ड में डुबकियाँ लगाने के बाद बाहर आया।

उसके पास ही एक छोटा कुण्ड था, लोगों का विश्वास है कि उसमें कोई देवी निवास करती हैं। जहाँ से पहला गरम पानी का सोता निकल रहा था, उसके पास पूरे शरीर को ढँककर बैठा। जहाँ पानी उबल रहा था, उसमें लोग कपड़े में बाँधकर आलू-चावल आदि डाल रहे थे, जो तीन-चार मिनट में पक जाता था। मेरे पास तो कुछ भी नहीं था। अन्न मिलेगा या नहीं – यह भी नहीं मालूम था।

एक मारवाड़ी युवक और उसकी माता भी वहाँ आये हुए थे। रास्ते में एक चट्टी में एक बार उनके साथ भेंट भी हुई थी। उन्होंने पूछा – "आप रोटी नहीं बनायेंगे? हमारे साथ थोड़ा चावल था, उसे हमने कुण्ड में उबालकर खा लिया। हमारे पास एक सेर आटा तथा गुड़ है, उसे लीजिए और रोटियाँ बनाकर खा लीजिए।" मैं बोला – "रोटियाँ किसमें बनाऊँगा, आग तो है नहीं!" उन्होंने कहा – "तो गाँव में ही लौट चलिए, वहीं रात में रोटी बनायेंगे, आप भी खाना।" मैं बोला – "मेरा यहाँ तीन रात निवास करने का संकल्प है, अत: आप लोगों के साथ जाना नहीं हो सकता।" और कोई चारा न देख वे लोग मुझे आटा और गुड़ देकर चले गये।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

प्रत्येक साधक अपने को श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठतर बनाना चाहता है, जिससे कि वह अपने स्वभाव के अनुसार परम लक्ष्य को प्राप्त कर सके – अर्थात् वह अनुभव कर सके कि वह शाश्वत चैतन्य तत्त्व है; परिवर्तनशील पदार्थ नहीं।

किसी भी पदार्थ का स्वार्थपरक विचार हमारे आत्म-चैतन्य के साक्षात्कार में बाधक होता है। जैसे ही हम स्वार्थी होते हैं, वैसे ही हमारा चित्त अपवित्र हो जाता है और हम सभी जानते हैं कि अपवित्रता, अशुद्धता अपने साथ सभी प्रकार के बन्धनों को लाती है, तथा हमें अधिकाधिक इन्द्रिय-सुखों में आबद्ध कर देती है। परिणाम-स्वरूप श्रेष्ठतर होने के बदले, महान बनने के बदले हम हीनतर अवस्था में पहुँच जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त तीनों सोपानों में से किसी एक को भी छोड़ने पर हम किसी भी उच्च लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते।

पवित्रता अध्यवसाय और धैर्य के साथ संयुक्त होकर हमारे जीवन को सर्वोच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर कराती है। इसलिये हमें सदैव इन सोपानत्रय पर दृढ़ रहना चाहिये।

❖ (क्रमश:) ❖

मैंने एक पत्थर के ऊपर आटे को सानने के बाद उसे दबा-दबाकर पाँच रोटियाँ बनाईं और उस उबलते पानी के कुण्ड में उन्हें डाल दिया। एक पण्डे ने कहा – "ये अब आपको नहीं मिलेंगी। नष्ट हो जायेंगी।" दो-एक यात्रियों ने भी ऐसा ही कहा, पर भाग्यवश सिवाय एक के बाकी सभी रोटियाँ एक-एक करके पानी के ऊपर तैर उठीं। पण्डों द्वारा वहाँ रखे गये एक बेलचे की सहायता से मैंने उन्हें निकाल लिया। रोटियाँ पक गई थीं, उनसे गन्धक की बू भी खूब आ रही थी, लेकिन भूख के कारण गुड़ के साथ मैंने उन्हें खा लिया।

संध्या के पूर्व ही पण्डे तथा यात्री – सभी गाँव की ओर चल दिये। भय के कारण वहाँ कोई नहीं रहता था, क्योंकि पिछले वर्ष सहसा बरफ गिरने के कारण कई लोगों की मृत्यु हो गई थी। पण्डों ने स्वयं भी देखा था कि कमरों की छतें टूटकर गिर चुकी थीं। परन्तु वे लोग अपने खर्च से उनकी मरम्मत कराने को तैयार नहीं थे। कोई धार्मिक यात्री पुण्य-प्राप्ति के लिए उन्हें ठीक करायेगा, यह सोचकर उन लोगों ने उसे वैसे ही छोड़ रखा था।

उन कमरों में से एक ही कुछ ठीक था, जिसे एक गुजराती सेठ ने अपनी स्त्री या बहन के खूब बीमार होने के कारण अधिकार कर रखा था। दूसरे में उसके साथवाले तथा उनके एक पण्डे को रहना पड़ रहा था। और हमारे भाग्य में था – एक आधे छतवाला कमरा, जिसमें आसन के लिए काठ के तीन तख्ते थे। हम केवल तीन साधु थे और सबकी हालत एक जैसी थी, किसी के पास पैसा नहीं था, कम्बल भी एक-एक ही था। नागा साधु आग लाने बाहर गये, क्योंकि वहाँ अग्नि के बिना रहना असम्भव था। और उनके लिए धूनी अति आवश्यक थी। उन गुजराती भाई ने उन्हें दो काठ के टुकड़े और थोड़ी-सी आग दी। उन्होंने उसी से धूनी जलाई और उसके तीनों तरफ तीनों तख्ते बिछाकर हम लोग अपने आसन लगाकर बैठ गये। सेठजी और पण्डा एक बार आये और झाँककर हमारी अवस्था देख गये। पण्डे ने कहा – "तुम लोग ठण्ड से मर जाओगे, क्योंकि थोड़ी-थोड़ी वर्षा शुरू हो गई है और रात को इसके बढ़ जाने पर हिमपात होने की सम्भावना भी है। यह कमरा टूटा-फूटा है और उसमें रात बिताने लायक कम्बल आदि ज्यादा नहीं हैं तथा आग की भी ठीक व्यवस्था नहीं है।"

थोड़ी देर बाद गुजराती भाई ने अच्छी तरह आग जलाने के लिए करीब चार मन या उससे भी कुछ अधिक लकड़ियाँ भेज दीं। हमने – 'जय कैलाशपति' – कहकर आग जलाई और उन्हीं गुजराती भाई की उदारता और भगवान की कृपा से थोड़ी रोटी और चाय भी मिली। लेकिन सारी-रात हमें जागते हुए बितानी पड़ी थी, क्योंकि ठण्ड क्रमश: बढ़ती जा रही थी और बीच-बीच में हल्की-फुल्की वर्षा भी पड़ रही थीं। सामने की ओर गर्म होता तो पीठ ठण्डी हो जाती और पीठ गर्म करने पर छाती बर्फ-जैसी ठण्डी हो जाती। इस प्रकार आगे-पीछे करते-करते सुबह के आठ बजे तक समय बीता। धूप होते ही बाकी दो साधु और गुजराती सेठ गर्म कुण्ड में स्नान करके गाँव चले गये। केवल पण्डा और मैं ही वहाँ रह गये।

ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता गया, त्यों-त्यों क्रमश: अन्य यात्री लोग आने लगे। उन यात्रियों के साथ अपराह्न के करीब दो बजे स्वर्गाश्रम के मेरे मित्र साधु हरिदास भी आ पहुँचे। मुझे देखकर वे खूब आनन्दित हुए। उनके साथ एक पोटली में आटा और थोड़ा-सा गुड़ भी था। स्नान आदि करने के बाद उन्होंने पूछा – "आहार आदि का क्या प्रबन्ध है?" मेरा उत्तर सुनकर वे अवाक् हो गये। इसके बाद उन्होंने उस पिछली रात की धूनी पर ही अपने पास के आटे से रोटियाँ बनाईं और हम दोनों ने भूख मिटायी। उस रात केवल साधु हरिदास और मैंने उसी धूनी के किनारे रात बिताई और कोई भी नहीं था। वे गुजराती भाई बाद में जाते समय भी हमें करीब तीन मन लकड़ी दे गये थे। उनको धन्यवाद! प्रभु उनका मंगल करें! अगली रात को पूर्ववत् ही सर्दी के कारण बड़ा कष्ट हुआ था, पर साधु हरिदास की कृपा से वह रात खूब आनन्द से बीती थी। उन्होंने बीच-बीच में कुछ गाकर या भाँति-भाँति के शास्त्रीय प्रसंग छेड़कर या कभी सरस बातें कहकर हँसाते हुए रात का कुछ भाग निकाल दिया। और कुछ घण्टे ध्यान-जप भी किया गया। इसके बाद अचानक ही भोर हो गयी। तृतीय दिन एक गृहस्थ यात्री को मेरे लिए रोटियाँ बनाने के लिए कुछ आटा देकर और मेरे पास थोड़ा-सा गुड़ देकर साधु हरिदास ने उत्तरकाशी की ओर प्रस्थान किया। दोनों की इच्छा थी कि वहाँ कुछ दिन एक साथ बिताया जाय।

तृतीय रात को अधिक कष्ट नहीं हुआ। वर्षा नहीं हुई। आकाश साफ रहा। चाँद की किरणें पर्वतों की बर्फीली चोटियों पर क्रीड़ा कर रही थी। उस रात मैं अकेले ही आसन पर बैठा और वहाँ से कुछ दूर दूसरे कमरे में दो पण्डे किसी कारणवश रह गये थे। मैं उस एकान्त में धूनी के पास बैठे-बैठे उस महान् गम्भीर प्रवाह की ध्वनि के साथ, अपने अन्तर के 'ॐ' सुर को मिलाकर, उस टूटी छत के भीतर से उस मनोहर दृश्य को देखता रहा। अहा, कितना सुन्दर दृश्य था! देखकर मानो तृप्ति ही नहीं हो रही थी। सारी रात बैठकर मानो नशा-सा हो गया था। केवल बीच-बीच में धूनी को देख लेना पड़ता था।

सुबह के समय सो गया था, जब आँख खुली तो देखा कि अनेक यात्री आये हैं और कोलाहल के साथ स्नान आदि कर रहे हैं। मैं भी स्नान करके गाँव की ओर गया। हे भगवान, थोड़ी दूर ही चला था कि कि सहसा मूसलाधार वर्षा शुरू हो गई। एक पत्थर के नीचे आश्रय लिया।

गड़गड़ की ध्वनि के साथ पहाड़ धँसने लगा। एक विशाल वृक्ष उखड़कर जिस पत्थर के नीचे मैंने आश्रय लिया था, उस पर आ गिरा और बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े सन-सन करते हुए मेरे पास से होकर जाने लगे। वहाँ से निकल भागने का भी उपाय नहीं था। मुझसे थोड़ी दूर एक अन्य बड़े पत्थर की आड़ में एक गृहस्थ और एक साधु ने आश्रय लिया था। वे – "भाग जाइये, भाग जाइये" – कहकर चिल्ला रहे थे। मैं प्रतिक्षण पत्थरों से दबकर यमपुरी जाने की राह देख रहा था। लेकिन भोग अभी भी बाकी थे, चाहे वे अच्छे हों या बुरे। अत: मेरा जरा भी अनिष्ट नहीं हुआ। प्राय: डेढ़ घण्टे बाद आँधी और वर्षा थोड़ी देर के लिए बन्द हुई। उन्होंने मुझे बुलाया और फिर हम लोग एक साथ गाँव की ओर रवाना हुए। रास्ता बड़ा भयंकर था, काफी खराब हो चुका था। इसीलिए बड़े कष्ट से हम लोग शाम को गाँव पहुँचे। जाकर देखा – स्वामी ईशानन्द, योगानन्द और तीन गुरुभाई – स्वामी विमलानन्द, वैष्णव मठ के कुमारानन्द और भाई भूमानन्द आदि अनेक लोग आये हुए हैं। वे सभी खूब परिचित थे, अत: उनसे मिलकर बड़ा आनन्द हुआ। भोजन करते-करते रात हो गई। साधु हरिदास भी उनका संग पाकर तब भी वहीं ठहरे हुए थे। रात बड़े आनन्द से बीती। स्वामी योगानन्द का कीर्तन, स्वामी कुमारानन्द का सुललित संस्कृत स्तोत्र-पाठ और बीच-बीच में विभिन्न अंचलों में हुई विभिन्न प्रकार के अनुभवों की बातों से बड़ी स्फूर्ति मिली।

दूसरे दिन वे लोग यमुनोत्री गये और मैं उत्तरकाशी के लिए रवाना हुआ। सबकी इच्छा थी कि उनके लौटने पर हम उन्हीं के साथ जायें, पर मुझे एकाकी जाना ही अच्छा लग रहा था, अत: मैं अकेला ही चल पड़ा। केवल थोड़ी दूर तक साधु हरिदास मेरे साथ थे। मैं बहुत धीरे-धीरे चलता हूँ और मुझमें तेज चलने के लिए शक्ति भी नहीं थी, जबकि उनकी गति बड़ी तेज थी और वे अपने भाव में अकेले ही रहना चाहते थे, इसीलिए वे आगे निकल गये।

और मैं प्रकृति के सौन्दर्य का उपभोग करता हुआ धीरे-धीरे चलने लगा। रास्ता पकड़कर चला। दोपहर को रास्ते के किनारे एक गाँव मिला। उसमें माधुकरी करने गया। वहाँ रोटी तो नहीं मिली, बल्कि सबने जौ का आटा दिया, जिसमें अधिकांश भूसी से युक्त था। शाम को एक चट्टी में पहुँचकर देखा – वहाँ बहुत-से लोग एकत्र थे। मुझे आटा-गुड़ देनेवाले मारवाड़ी भाई तथा उनकी माँ भी मिले। अस्वस्थ होने के कारण वे लोग तीन दिनों से वहीं थे। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए। वे भोजन पका रहे थे। मैंने भी टिक्के बना देने के लिए अपना आटा उन्हें दे दिया। मारवाड़ी-माँ ने कहा – "इससे रोटियाँ कैसे बनेंगी? इसे छानकर लाओ, इसमें तो केवल भूसी-ही-भूसी है।" मैंने कहा – "इस समय रात के १० बजे चलनी माँगने से भला कौन देगा? फिर छानने से आटा भी कम हो जायेगा और मैं सारे दिन से भूखा हूँ। इसी का बना दीजिए और खूब अच्छी तरह सेंकिये, ताकि भूसियाँ जलकर खाने के लायक हो जायँ।" उनके पास भी आटा नहीं था। खूब गूथकर उसके चार टिक्के बना दिये, परन्तु (चटनी के साथ) खाते समय देखा कि जौ की भूसियाँ वैसी ही थीं। खाते समय गले में अटक गयीं, उन्हें पानी की सहायता से पेट में उतारना पड़ा। भूख-देवता तो बिना कुछ पाये सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे, इसीलिए इसी प्रकार उनकी पूजा हुई। खाने में बेहद तकलीफ हुई। वह माँ बार-बार कह रही थी – "बड़ी.तकलीफ हो रही है न!" मैं मन-ही-मन सोचने लगा – "पेट दियो, सो पाप दियो है।"

उसी चट्टी में मेवाड़ की दो संन्यासिनियाँ भी थीं। वे मेरी हालत देख और सुनकर मन-ही-मन बड़ी दुखी हुई थीं। सबेरे उन्होंने कहा – "अगली चट्टी पर (जो सात-आठ मील दूर थी) आप हमसे भिक्षा ग्रहण करें।" वहाँ पहुँचकर देखा कि वे प्रतीक्षा कर रही हैं। बहुत-सा गरम-गरम हलुवा खाने को दिया – "खाइये, गले का घाव ठीक हो जायेगा।" सचमुच उसे खाने में कोई कष्ट नहीं हुआ और घाव भी ठीक हो गया। धन्य है मातृ-हृदय!

अगले दिन फिर उन योगी के गाँव में गया। उन लोगों ने बड़े प्रेम से भिक्षा दी। तीसरे दिन रास्ते के एक गाँव में भिक्षा करने गया – प्रत्येक घर से मुझे बुला-बुलाकर भिक्षा दी गयी। अहा, उन लोगों का कितना सुन्दर भाव था! वहाँ पहले एक संन्यासी रहते थे और उसी गाँव में माधुकरी करते थे, इसीलिए इनका ऐसा भाव है।

उत्तरकाशी वहाँ से लगभग डेढ़ मील के करीब है – यह सुनकर भोजन किये बिना ही मैं वहाँ के लिए चल पड़ा। बाबा काली-कमलीवाले की धर्मशाला के पास पहुँचते ही देखा – बाहर के एक कमरे में साधु हरिदास बैठे हैं। दोनों ने मिलकर उस भिक्षा को ग्रहण किया। वहाँ उनके साथ एक रात बिताने के बाद, वहाँ से कुछ दूर गंगा के उस पार स्थित एक शिव-मन्दिर के बरामदे में मेरा कुछ दिन रहने का सौभाग्य हुआ था। लेकिन बाद में भिक्षा की तकलीफ होने लगी। वहाँ उस समय अनेक संन्यासी थे और प्राय: सभी उन निर्धन पहाड़ियों के यहाँ मधुकरी करते थे। देखा कि वहाँ काली-कमलीवालों के सत्र का उन दिनों ऐसा नियम था कि वहाँ सिर्फ तीन दिन भिक्षा लिया जा सकता था और जो उससे ज्यादा दिन भिक्षा चाहते हैं, उन्हें विशेष आदेश मँगवाना पड़ता था या मैनेजर साहब से प्रार्थना करनी पड़ती थी।

गंगोत्री के पथ पर

दोनों ही बातें मेरे लिए असम्भव थीं, अत: मैंने गंगोत्री जाने का निश्चय किया। कुछ दिन बाद निकल पड़ा। हर

जगह रहने और भिक्षा करने की सुविधा है या नहीं – देखते हुए चला। परन्तु जहाँ रहने की सुविधा होती, वहाँ भिक्षा की सुविधा नहीं होती और यदि भिक्षा मिलती, तो रहने के सुविधा नहीं होती।

इसी प्रकार घूमते-घूमते गंगोत्री पहुँचा। जाकर देखा कि वहाँ सत्र में अरुणाचल आश्रम के ठाकुर दयानन्द के एक शिष्य वहाँ विद्यमान थे। मैनेजर ने उनके पास ही मेरे आसन की व्यवस्था कर दी। बीच में एक छोटी-सी धूनी थी। बहुत अच्छा लगा। गंगोत्री का रास्ता बीच में थोड़ा कठिन होने पर भी यमुनोत्री के जैसा कठिन नहीं है। (अब सुनता हूँ कि यमुनोत्री का रास्ता काफी अच्छा हो गया है।)

गंगोत्री का दृश्य सुन्दर ही नहीं, अति सुन्दर था, परन्तु हिमाच्छादित पर्वत थोड़ी दूर थे और पास में भोजपत्र के वृक्ष थे, जिनकी छाल को लिखने के लिए प्रयोग करते हैं। दूसरे प्रकार के भी काफी वृक्ष थे। इस दृश्य की मोहकता कुछ भिन्न प्रकार की है। ग्रीष्म ऋतु होने के कारण सारे वृक्ष पत्तों से भरे थे, बहुत-से वृक्षों में फूल भी लगे हुए थे। उनका सुगन्ध कितना अद्भुत था ! हिमालय के इस अंचल में मानो वसन्त की लीला चल रही थी।

गोमुख, जहाँ गंगा कैलाश से धरती पर उतरती हैं, वह यहाँ से और भी अठारह मील दूर है और रास्ता भी बड़ा खराब है, परन्तु भूटिया लोगों की सहायता से बड़े कष्टपूर्वक वहाँ पहुँचा जा सकता है। पैसे तथा उपयुक्त कपड़े न होने के कारण जाने का साहस नहीं हुआ। मैनेजर ने बतलाया – "जाने में तीन दिन और आने में भी उतना समय लगता है और साथ में आग के लिए लकड़ी और खाद्य-सामग्री ले जानी पड़ती है।" रास्ता बड़ा खराब और स्थान बड़ा भयंकर है। इसीलिए शायद उत्तराखण्ड-माहात्म्य में लिखा है – "माँ को नंग्नावस्था में नहीं देखना चाहिए।" यमुनोत्री के विषय में ऐसी मनाही नहीं की गई है।

और एक बात, आते समय रास्ते में मेरा दण्ड खो गया था। गंगोत्री के पास भाई भूमानन्द के साथ मुलाकात हुई। वे अपना दण्ड मुझे दे गये थे। उस पहाड़ी देश में यह भी कोई कम त्याग नहीं था। तीन-चार दिन बाद मैं पास की एक गुफा में रहने गया। लेकिन दो रात निवास करने के बाद ही मुझे गठिया रोग ने पकड़ा। आग नहीं थी। कुमारानन्द स्वामी एक अन्य अच्छी गुफा में थे। उनके पास सभी प्रकार की व्यवस्था थी। फिर मैनेजर के अनुरोध पर मैं उनके सत्र में ही लौट गया और कुछ दिन वहीं बिताया।

गंगोत्री से तेरह मील नीचे एक गाँव है। पूज्य बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्दजी) के मुख से अनेकों बार सुना था कि सत्र का अन्न तामसिक होता है और उसे ज्यादा दिन खाने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। वही बात बारम्बार मन में उदित होने लगी। पास में कौड़ी भी न थी, जिससे स्वयं ही अपने भोजन का प्रबन्ध कर पाता। रुपये-पैसे तो पहले से ही नहीं रखता था और गाँव भी तेरह मील नीचे था। फिर इस बर्फ-जैसे ठण्डे पानी में स्नान करने और बिना गरम किये पीनें से दाँतों का खूब क्षय होना शुरू हो गया था। इतनी पीड़ा होती कि खूब नरम रोटी भी चबाकर नहीं खा पाता था। उसे दाल के पानी में घोलकर प्रायः निगलना पड़ रहा था। ज्यादा आइसक्रीम खाने से दाँतों की जैसी दशा होती है, गंगा के बर्फ-मिश्रित पानी पीने से भी उससे भी अधिक क्षति कर रहा था। इसीलिए सत्र के मैनेजर तथा और भी दो-एक लोगों ने पानी को बिना गर्म किये पीने को मना किया था, लेकिन गर्म भी भला कैसे करता ! उसके लिए फिर बर्तन कहाँ से लाता ! इन्हीं सब कारणों से नीचे ग्राम में जाने का निश्चय किया।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वयं को जानो और सबल बनो

तुम्हें कौन दुर्बल बना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत् में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो। अतएव उठो और मुक्त हो जाओ। ... मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनानेवाला संसार में जो कुछ है, वही पाप है और उसी से बचना चाहिए। तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर-चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जायँ, तो भी तुम्हें क्या? पर्वत की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो। कहो – "शिवोऽहं, मैं पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।" पिंजड़े को तोड़ डालने वाले सिंह की भाँति तुम अपने बन्धनों को तोड़कर सदा के लिए मुक्त हो जाओ।

– स्वामी विवेकानन्द

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (९)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी.ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

भक्तियोग

भारत के प्रसिद्ध सन्त तथा 'रामचरित-मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास की अपनी युवावस्था में पत्नी के प्रति बड़ी आसक्ति थी। उसका एक दिन का भी विछोह उन्हें सहन नहीं होता था। एक बार उनकी पत्नी कुछ दिनों के लिए मायके गयी। परन्तु इतना-सा वियोग भी तुलसीदास जी को सहन नहीं हो सका। घर में रह पाना उनके लिए असम्भव हो उठा। उन्होंने उसी दिन ससुराल जाकर पत्नी से भेंट की। इस पर उनकी पत्नी ने कहा, "मेरे प्रति तुम्हारी इतनी तीव्र आसक्ति है। इतनी यदि भगवान में होती, तो तुम्हें थोड़े दिनों में ही उनका दर्शन प्राप्त हो जाता।" पत्नी के इस वाक्य का तुलसीदास के मन पर मंत्र का-सा प्रभाव हुआ। उनके मन में सहसा अकल्पनीय परिवर्तन आया। वे ईश्वर-प्रेम में मतवाले हो उठे। कालान्तर में वे श्री भगवान का दर्शन पाकर धन्य हुए और असंख्य भक्तों के लिए प्रेरणा के केन्द्र हुए।

मनुष्य के चरित्र में आनेवाले ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन के उदाहरणों से हिन्दुओं के इतिहास तथा पुराण भरे पड़े हैं। विल्वमंगल ने भी गणिका के प्रति अपनी प्रचण्ड आसक्ति को श्री भगवान की ओर मोड़कर ही अमृतत्व-प्राप्ति की थी।

इन सभी घटनाओं से भक्तियोग का थोड़ा संकेत मिल जाता है। भगवान से प्रेम करके उन्हें प्राप्त किया जा सकता है – यह सहज सत्य ही भक्तियोग का आधार है। इसमें श्री भगवान को प्रेम करने के अतिरिक्त न तो निराकार चिन्तन की जरूरत पड़ती है और न शारीरिक या मानसिक व्यायाम की। भक्तियोग में किसी भी अस्वाभाविक क्रिया की अपेक्षा नहीं होती।

अधिकांश लोग भावुक स्वभाव के होते हैं। उनका हृदय प्रेम के आवेग से जितना अभिभूत होता है, उतना अन्य किसी भाव से नहीं होता। हर व्यक्ति का अपने ऊपर असीम अनुराग होता है। उसके बाद घर-परिवार, नातेदार, मित्र, पड़ोसी, धर्ममत, जाति तथा देश आदि में होता हुआ वह काफी दूर तक प्रसारित होता है। धन-सम्पत्ति, समृद्धि आदि के प्रति भी व्यक्ति का अनुराग बड़ा प्रगाढ़ होता है। और यौन-प्रेम में तो मानव-समाज अधिकांश भाग ही डूबा हुआ है। इस प्रकार सभी विषयों के प्रति हृदय के आकर्षण के कारण ही जीवन भर सारे कर्मों की प्रेरणा आती है और इसी के प्रभाव से प्रत्येक चरित्र का निर्धारण होता है। इसके अलावा प्रेम आनन्द लाता है, जीवन को सरस तथा उपभोग के योग्य बनाता है। इसके सुखद स्पर्श से विश्व मानो मोहक रूप धारण करता है, मधुमय हो उठता है। और दूसरी ओर इसके अभाव में जीवन एक भार-स्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि प्रेम मानव-मात्र के हृदय की एक मूल वृत्ति है और प्रत्येक जीवन पर इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। इस प्रेम के ईंधन से हमारे हृदय के सारे आवेक प्रज्वलित होते हैं। यथा, जीवन के प्रति अनुराग से ही मृत्यु-भय उत्पन्न होता है; स्वार्थ के प्रति आसक्ति के कारण ही विद्वेष-भाव का जन्म होता है। वस्तुत: हमारे सभी महान् तथा निकृष्ट कार्यों की प्रेरणा इसी परम आवेग 'प्रेम' से ही उत्पन्न होती है। महापुरुषों के उदात्त आचरण के मूल में उनका विश्व-प्रेम ही निहित होता है। मनुष्य के असाधारण साहसिक कार्यों के पीछे भी प्राय: इसी मूल आवेग का हाथ रहता है। सन्तान-प्रेम के कारण माता अपने बच्चों के रक्षार्थ सिंह तक के मुख में कूद पड़ती है। देशप्रेम की प्रेरणा से सैनिक स्वेच्छया मृत्यु का वरण करता है। दूसरी ओर स्वार्थ के प्रति अस्वाभाविक आसक्ति व्यक्ति को हत्या, लूट, शोषण, अत्याचार आदि नृशंस तथा बुरे कार्यों में प्रेरित करती है। डकैतों के रोमहर्षक क्रूरता के लिए भी सगों की प्रीति ही प्रेरणा जुटाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक जीवन के अनुकूल सदाचारों के मूल में जो प्रेम है, वही उसके विपरीत हीनतम दुष्कर्मों के मूल में भी है। प्रेम अपने आपमें निरपेक्ष है। जैसे दीपक की सहायता से पूजा-मण्डप को आलोकित किया जा सकता है और फिर घर में आग भी लगायी जा सकती है, वैसे ही प्रेम के प्रभाव से भी भले तथा बुरे – दोनों ही प्रकार के आचरण सम्भव हैं। और यह भला या बुरा आचरण इस प्रेम-रूपी इस प्रचण्ड आवेग के उपयोग की पद्धति पर निर्भर करता है।

प्रेमभाव का उत्कृष्ट उपयोग मिलता है भक्तियोग में। इस आवेग को नियंत्रित करके हम अपने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। जागतिक विषयों के समान ही ईश्वर के प्रति प्रबल आकर्षण पैदा कर पाने पर उनकी प्राप्ति हो सकती है। मुक्ति के लिए और कुछ भी करने की जरूरत नहीं। प्रेम किसे कहते हैं, यह तो हम भलीभाँति जानते हैं।

इस सुपरिचित जन्मजात मनोवृत्ति का केवल लक्ष्य मात्र बदल देना होगा। प्रेम के प्रवाह को भोग्य विषयों की जगह ईश्वर की ओर मोड़ देना होगा। इससे हमारे भावुक स्वभाव को पूर्ण अभिव्यक्ति मिल जाती है। अत: साधना के इस पथ में किसी अस्वाभाविकता के दबाव से हमारी सहजता में बाधा आने की कोई आशंका नहीं है। एक बात और – भगवान के प्रति आकर्षण बढ़ने के साथ-ही-साथ विषयों के प्रति आसक्ति दुर्बल होती जाती है। इसके फलस्वरूप जीवन में सहज-स्वाभाविक गति से ही त्याग-वैराग्य का विकास होता है। फिर, भगवान से प्रेम लगाने पर प्रारम्भ से ही विमल आनन्द की प्राप्ति होती है। इसी कारण अधिकांश लोग भक्तियोग को पसन्द करते हैं। यही हममें से बहुत-से लोगों के लिए रुचि तथा क्षमता के अनुरूप सर्वाधिक सहज मार्ग है।

वैसे, भगवान से प्रेम करना जितना सहज लगता है, वस्तुत: उतना सहज नहीं है। विषयों के प्रति आसक्ति का लेश-मात्र भी रहने पर भगवान के लिए व्याकुलता नहीं आती। इन्द्रियों को सन्तुष्ट करनेवाली किसी वस्तु से प्रेम करना हमारे लिए स्वाभाविक कार्य है। परन्तु जिन भगवान को हमने देखा नहीं, जिनका अनुभव नहीं किया, उनसे प्रेम करना निश्चित रूप से उतना आसान नहीं है।

परन्तु भक्तियोग में इस दु:साध्य कार्य को सहज बना लेने की युक्ति मिल जाती है। इस योग में एक ऐसी क्रमबद्ध साधना-पद्धति बतायी गयी है, जिसके द्वारा कोई नया साधक भी सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ते हुए भगवत्प्रेम के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर मोक्षपद प्राप्त कर सकता है।

भगवान के लिए अनन्य प्रगाढ़ प्रेम को पराभक्ति कहते हैं। ईश्वर का रूप-दर्शन, भावावेश का सघन आनन्द आदि आध्यत्मिक वैभवों से युक्त पराभक्ति वैष्णव-भक्तों का चरम लक्ष्य है। इस कोटि के भक्तगण इसी जन्म में भगवत्प्राप्ति करके धन्य हो जाते हैं और मृत्यु के बाद उच्च-लोक में जाकर सूक्ष्म-शरीर में अपने प्रेमास्पद भगवान के सान्निध्य में अनन्त काल तक निवास करते हैं।

परन्तु यह पराभक्ति एक दिन में प्राप्त नहीं हो जाती। यह साधन-सापेक्ष है। सबको कुछ प्रारम्भिक साधनाएँ करनी पड़ती हैं, जिसे गौणी-भक्ति कहते हैं। निष्ठापूर्वक साधना के फलस्वरूप गौणी-भक्ति ही पराभक्ति में परिणत हो जाती है।

अन्य योगों के समान ही भक्तियोग भी नैतिक जीवन के आधार को सुदृढ़ बनाने का निर्देश देता है। साधक अपनी इन्द्रियों को वश में लाकर संयम, त्याग, सत्य, साधुता, निष्ठा तथा अहिंसा का अभ्यास करता है। वह दूसरे की चीजों पर लोभ नहीं करेगा और बिना किसी प्रत्याशा के ही जनसेवा करेगा। वह कभी उल्लास के अतिरेक से आत्मविभोर नहीं होगा। अर्थात् उसके देह-मन – दोनों ही बलिष्ठ होने चाहिए।

इस प्रकार नैतिक बल से युक्त होकर साधक दृढ़ संकल्प तथा अदम्य अध्यवसाय के साथ गौणी-भक्ति की साधना में लगा रहेगा। इस साधना के द्वारा ही वह समस्त विषयों से मन को उठाकर भगवत्-चिन्तन में लगा सकेगा। अटल श्रद्धा के साथ इस साधना में लगे रहने पर सफलता अवश्यम्भावी है।

निरन्तर ईश्वर का चिन्तन ही भक्तियोग की साधना है। केवल इस प्रकार के चिन्तन के प्रभाव से ही मन क्रमश: निर्मल, प्रफुल्ल तथा तेजस्वी होता है और साधक परा-भक्ति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर होते हुए अन्तत: मुक्तिलाभ करता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण करते हैं – "जो लोग अपने सारे कर्मों को मुझमें अर्पित करके, मेरे परायण होकर, अनन्य योग के द्वारा मेरी उपासना और ध्यान करते हैं, मुझमें अर्पित चित्त वाले उन सभी भक्तों को मैं शीघ्र ही जन्म-मृत्यु-रूपी संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ।"[१] वैसे सर्वदा ईश्वर-चिन्तन में लगे रहना बड़ा दुरूह काम है। परन्तु विरागयुक्त साधक के बारम्बार संकल्प से प्रेरित नये-नये प्रयासों के फलस्वरूप यह कठिन कार्य क्रमश: सहज हो जाता है।[२]

प्रारम्भ में मन किसी निर्दिष्ट लीक पर चलना नहीं चाहता। उसे एक ही प्रकार से एक ही भाव की पुनरावृत्ति अरुचिकर प्रतीत होती है। परन्तु भक्तियोग में ईश्वर-चिन्तन के विविध पद्धतियों का विधान करके इस प्रारम्भिक कठिनाई का समाधान किया गया है। ईश्वर का नाम-जप, स्तव-स्तोत्रों की आवृत्ति, उपकरणों के साथ पूजा, उनके रूप या ऐश्वर्य तथा महिमा का ध्यान, उनसे सम्बद्ध शास्त्रों का अध्ययन और उनके कृपा-धन्य महापुरुषों का चरित्र पढ़ना आदि विभिन्न कर्मों के द्वारा हमारा मन भगवान के चिन्तन में लगा रह सकता है। इससे अरुचिकर एकांगीपना दूर होता है और साधना सरस हो उठती है।

ईश्वर ही विश्व के रूप में विराजमान हैं – हिन्दुओं की इस धारणा[३] से भी ईश्वर-चिन्तन सहज हो जाता है। हम रूप की सहायता से ही किसी वस्तु का चिन्तन किया करते हैं। रूपहीन शून्य को हम कभी भी अपने विचार की परिधि में नहीं ला सकते। इसीलिए ईश्वर के किसी एक रूप को आधार बनाकर उनका चिन्तन करना काफी सहज है। सारा विश्व ही उनका एक रूप है; विश्व के रूप में भी उनका ध्यान किया जा सकता है। यदि इस सृष्टि की किसी विशेष वस्तु का ईश्वर-बोध से चिन्तन किया जाय, तो और भी आसानी हो जाती है। क्योंकि उस वस्तु के रूप के माध्यम से भी तो वे ही प्रकाशित हो रहे हैं।

(शेष पृ. १२५ पर)

१. गीता, १२/६-७; २. वही, ६/३५; ३. द्वितीय अध्याय के २०वें अध्याय में इस पर विशद चर्चा होगी।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(११) जाने बिनु न होइ परतीति

एक बार पार्वतीजी ने भगवान शंकर से प्रश्न किया – "संसार में ऐसे भी लोग हैं, जिनकी धार्मिक कृत्यों में आस्था होती है और जो अपना समय कर्मकाण्डों में व्यतीत करते हैं, परन्तु उन्हें इसका प्रतिफल क्यों नहीं मिलता? क्या इसे उनका दुर्भाग्य नहीं कहा जाएगा?"

शिवजी ने सुना, तो मुस्कुरा दिये। बोले – "वस्तुत: तुम जिसे 'आस्था' कहती हो, वह आस्था नहीं 'दिखावा' है। कर्मकाण्डों के सहारे वे धार्मिकता का दिखावा करते हैं। उनमें आस्था या श्रद्धा नाममात्र को भी नहीं होती।"

पार्वतीजी ने उनके इस कथन पर असहमति जताते हुए कहा – "यह आपका भ्रम है।"

शिवजी बोले – "तो ठीक है, तुम स्वयं ही इसका सत्यापन कर लो, ताकि तुम्हें सच्चाई विदित हो जाये।"

शंकरजी ने स्वयं एक कोढ़ी का रूप धारण किया और पार्वतीजी को एक रूपवती नारी बनने को कहा। फिर दोनों भिक्षापात्र लेकर काशी में विश्वनाथजी के मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठ गये। विश्वनाथजी का दर्शन करके लौटकर आनेवाले लोग सीढ़ियों पर बैठी पार्वतीजी के पात्र में सिक्के डालते थे, परन्तु कोढ़ी बने शिवजी की ओर उनका ध्यान जरा भी नहीं जाता था। कुछ लोग यह कहने में भी नहीं हिचकिचाते थे कि 'अहा, इस स्त्री ने क्या सुन्दर रूप पाया है, मगर बेचारी एक कोढ़ी के गले बँधी हुई है! काश यह मुझे पहले दिखाई दी होती, तो मैं इसी को अपनी पत्नी बना लेता!" शिव-पत्नी इसे सुनकर अनसुना कर देतीं।

इतने में वहाँ एक दीन-हीन व्यक्ति आ पहुँचा। उसने पार्वतीजी के चरण-स्पर्श करते हुए कहा – "देवि, यदि आप अनुमति दें, तो मैं आपके पतिदेव के हाथ-पैर धोकर उनकी मरहम-पट्टी करूँ। जब पार्वती जी ने – 'जैसी आपकी मर्जी' – कहा, तो इसे स्वीकृति मानकर उसने शिवजी के हाथ-पैर धोकर उनकी मरहम-पट्टी की और इसके बाद वे भगवान का दर्शन करने मन्दिर के भीतर गये।

भगवान शिव ने पार्वतीजी से कहा, "देखा तुमने सच्चा भक्त कौन है और ढोंगी कौन है। भगवान का सच्चा और आस्थावान भक्त कोई बिरला ही होता है।"

(१२) बड़े बड़ाई ना करैं

एक बार देवी लक्ष्मी को अहंकार हुआ कि पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ वे ही हैं और उनका जितना अधिक पूजन किया जाता है, उतना अन्य किसी भी देवी का नहीं किया जाता। बात जब देवी सरस्वती तथा दुर्गाजी तक पहुँची, तो वे उनके पास जा पहुँचीं और उनकी इस धारणा को गलत बताया। उन्होंने कहा – "पृथ्वी पर हर देवी-देवता का अलग-अलग प्रसंग में अपना-अपना महत्त्व होता है और लोग सबकी समान रूप से पूजा-उपासना करते हैं। उनकी दृष्टि में कोई भी देवता श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर या श्रेष्ठतम नहीं होता।" लक्ष्मीजी को यह स्वीकार नहीं था, अत: उन्होंने वास्तविकता का पता लगाने का निश्चय किया और वे तीनों ही वेश बदलकर पृथ्वी पर आयीं।

एक मूर्तिकार के पास देवी-देवताओं की बहुत-सी मूर्तियाँ देखकर वे वहीं ठहर गयीं। लक्ष्मीजी ने एक मूर्ति की ओर संकेत करके पूछा – "वह किसकी मूर्ति है और उसकी क्या कीमत है?" "यह मूर्ति माता सरस्वती की है और इसका मूल्य पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ हैं" – मूर्तिकार ने उत्तर दिया।

कीमत सुनकर लक्ष्मीजी मन-ही-मन हँसी – "केवल पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ! और दूसरी प्रतिमा की ओर इशारा करके उसकी कीमत भी पूछ लिया। मूर्तिकार ने कहा – "यह दुर्गामाता की मूर्ति है और इसका मूल्य भी पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ ही हैं।"

"क्या दोनों का मूल्य केवल पाँच स्वर्ण-मुद्रायें हैं?" – आश्चर्यचकित हो उसने एक तीसरी मूर्ति की ओर इंगित करते हुए पूछा, "और यह मूर्ति किसकी और कितने की है?"

मूर्तिकार ने कहा – "यह मूर्ति लक्ष्मी-माता की है, पर माता-सरस्वती विद्या और माता-दुर्गा शक्ति की देवी होने के कारण उनकी माँग अधिक है।" लक्ष्मीजी ने व्यथित मन से पूछा – "यानी धन की देवी लक्ष्मी की कोई माँग नहीं?"

मूर्तिकार बोला – "हाँ, इसका कारण यह है कि लोगों को अपनी विद्या तथा बल पर इतना विश्वास है कि वे इन्हीं के बूते स्वयं को धन कमाने में सक्षम मानते हैं। इसीलिए लोग इन्हीं की मूर्तियाँ खरीदते हैं। केवल दीवाली पर लक्ष्मी-पूजन के दिन ही इस मूर्ति की माँग रहती है। अन्य दिनों में इसे कोई खरीदता नहीं। इसीलिए मैं लक्ष्मीजी की मूर्तियाँ नहीं बनाता।" यह सुनकर लक्ष्मीजी का अहंकार जाता रहा। ❖ (क्रमश:) ❖

विवेक-चालीसा

स्वामी विदेहात्मानन्द

('चालीसा' स्तुति-काव्य की एक अति लोकप्रिय विधा है। हनुमान-चालीसा, दुर्गा-चालीसा आदि अनेक लघु काव्यों की इसी विधा में रचना हुई है। इसके पूर्व डॉ. केदारनाथ लाभ द्वारा रचित 'श्रीरामकृष्ण-चालीसा' का मुद्रण हो चुका है। अब प्रस्तुत है 'विवेक-चालीसा'। स्वामी विवेकानन्द जी के अलौकिक जीवन से प्रेरणा प्राप्त करने हेतु इसका दैनन्दिन पाठ या गायन किया जा सकता है। – सं.)

मंगलाचरण

श्रीगुरु-पद-पंकज सुमिर, इष्ट रूप हृदि धारि,
वरणौं चरित पुनीत यह, ज्यों भागीरथ-वारि ।।

जय विवेक विद्या-गुण-सागर ।
धर्मदूत करुणा के आगर ।।
सुनो सुनो यह अमृतरूपा ।
चरित-विवेकानन्द अनूपा ।।
पुण्य चरित यह अति मनभावन ।
शोक-मोह भवरोग नसावन ।।४।।

(ॐ तत्सत् ॐ तत्सत् ॐ तत्सत् ॐ)

(नर-नारायण के अवतार ।
करो-करो जग का उद्धार ।।)

जन्म तथा बचपन

पुण्य-धाम नगरी कलकत्ता ।
प्रगटी महादेव की सत्ता ।।
विश्वनाथ-भुवनेश्वरि के घर ।
जन्मे श्री नरेन्द्र योगीवर ।।
बचपन में निर्भय-जिज्ञासू ।
तरुणाई में ज्ञान-पिपासू ।।
भक्ति-भजन की इच्छा जागी ।
ब्रह्म-समाज हुए अनुरागी ।।८।।

गुरु-प्राप्ति

ईश्वर-विषय हुई जिज्ञासा ।
पहुँचे 'परमहंस' के पासा ।।
झलक उन्हीं में पा ईश्वर की ।
वरण किया गुरु-रूप उन्हें ही ।।
हुए स्नेह-करुणा के भाजन ।
करते रहे पढ़ाई-साधन ।।
चिर-समाधि ले ली प्रभु ने जब ।
'मठ' में रहते गुरुभाई सब ।।१२।।

भारत-भ्रमण

निकले मठ से बना लिया मन ।
करना है स्वदेश का दर्शन ।।
गये हिमालय उत्तर-पश्चिम ।
दक्षिण का भी किया प्रदक्षिण ।।
देखी देश-दुर्दशा सारी ।
पहुँचे तब कन्याकुमारी ।।
वहाँ शिला पर ध्यान लगाया ।
समाधान अन्तर में पाया ।।
धर्म-प्रदान करूँ पश्चिम को ।
उनसे उन्नति भारत की हो ।।
धर जलयान चले अमरीका ।
केन्द्र हुआ था जो जगती का ।।१८।।

शिकागो-सम्मेलन

सब धर्मों की महासभा में ।
चमके सूर्य-समान प्रभा में ।।
किया वहाँ सम्बोधन जब यों ।
अमरीका के भगिनी-बन्धुओ ।।
बजा तालियाँ सब नर-नारी ।
करते व्यक्त हर्ष सुख भारी ।।
वहाँ दिया सन्देश अनूपम ।
दूर किया अज्ञान और भ्रम ।।
सभी धर्म हैं सत्य सनातन ।
पुरा काल के या अधुनातन ।।
व्यर्थ झगड़ना और मचलना ।
मूल बात है उन पर चलना ।। २४ ।।

देश को सन्देश

लौटे भारत देश जगाया ।
अपना नव सन्देश सुनाया ।।
जाति-धर्म का भेद मिटाओ ।
पिछड़े जन में जागृति लाओ ।।

दीन-दुखी ईश्वर की मूरत।
करो इन्हीं की सेवा अविरत।।
मन होगा तब शुद्ध तुम्हारा।
ब्रह्मरूप होगा जग सारा।।२८।।

मठ-स्थापन

बेलुड़-कलकत्ते में आकर।
मठ बनवाया गंगातट पर।।
शिष्यों को, सह त्याग-तितीक्षा।
उपनिषदों की देते शिक्षा।।

जहाँ प्लेग दुर्भिक्ष भयावह।
राहत पहुँचाते शिष्यों सह।।
किया सतत अक्लान्त परिश्रम।
बने अनेकों जन-सेवाश्रम।।३२।।

अन्तिम पर्व

अमरनाथ-शिव दरशन कीन्हा।
इच्छा-मृत्यु उन्हहिं वर दीन्हा।।
पुनः किया दौरा पृथ्वी का।
गए पुनः यूरोप-अमरिका।।

धर्म-समितियाँ की स्थापित।
अब भी वहाँ कर रहे जनहित।।
लौट पुनः आए मठ अपने।
रूपायित होते सब सपने।।
हिमगिरि में आश्रम मायावति।
रहे वहाँ कुछ दिन प्रज्ञापति।।३७।।

महासमाधि

चालिसवाँ चल रहा आयु का।
हुआ काम था प्राणवायु का।।
ली मठ में ही महासमाधि।
छोड़ी वहीं शरीर-उपाधि।।

सूक्ष्मरूप अब जग हित करते।
सबमें दिव्य-प्रेरणा भरते।।
करो प्रार्थना उन्हें हृदय से।
मुक्त करेंगे सब भव-भय से।।४१।।

परम लुभावन अति मधुर,
चरित विवेकानन्द।
कृत 'विदेह' यह चालिसा,
देती परमानन्द।।

पृष्ठ १२३ का शेषांश

इसके अतिरिक्त हमारे स्थूल अनुभूतियों के परे भी ईश्वर के विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, दुर्गा, काली आदि अनेक दिव्य रूप विद्यमान हैं। और प्रत्येक देवता की ईश्वर-बोध से उपासना करने से एक ही फल प्राप्त होता है, क्योंकि इन देवताओं के रूप में ईश्वर ही अभिव्यक्त हो रहे हैं। वैसे जिसमें ईश्वर की अभिव्यक्ति जितनी अधिक स्पष्ट है, उसकी ईश्वर-बोध से उपासना करना उतना ही आसान होगा।

एक बात और – हिन्दुओं का विश्वास है कि मानव-समाज के आध्यात्मिक विकास के लिए भगवान नरदेह धारण किया करते हैं। राम और कृष्ण – ये भारत के दो प्रमुख अवतार हैं। इनमें से किसी भी एक ईश्वर का अवतार मानकर उनके प्रति भक्ति का अभ्यास किया जा सकता है।

भक्तिमार्गियों में प्रमुख वैष्णवगण श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं। नर-रूप में ईश्वर से प्रेम करना निश्चित रूप से उपासना की सरलतम पद्धति है। निराकार, सर्व-शक्तिमान ईश्वर के अथवा ज्योतिर्मय दिव्यमूर्ति ईश्वर के प्रति हम भय तथा श्रद्धा का भाव रख सकते हैं; परन्तु इसे प्रेम नहीं कहा जा सकता। प्रेम अपनत्व के बोध पर ही आधारित होता है। ईश्वर जब मनुष्य-रूप में आते हैं, तो वस्तुत: वे हमारे बहुत निकट आते हैं और उन्हें हम बड़ी आसानी से अपनी पहुँच में पाते हैं। इसीलिए मनुष्य-रूपी भगवान को प्रेम करने के लिए हमें अपनी कल्पना-शक्ति पर ज्यादा बोझ नहीं डालना पड़ता।

❖ (क्रमशः) ❖

दैवी सम्पदाएँ - (१) अभय

भैरवदत्त उपाध्याय

गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पत्तियों का जो वर्णन किया है, उसमें 'अभयम्' को प्रथम स्थान दिया है। 'अभयम्' अर्थात् भय का अभाव। साहित्य-दर्पणकार ने 'भय' को परिभाषित करते हुए लिखा है - **रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम्** - अर्थात् किसी भी भीषण वस्तु की विभीषिका शक्ति से उत्पन्न चित्त की विकलता का नाम भय है।

साहित्य शास्त्र में, रसों में एक भयानक रस भी परिगणित है, जिसका स्थायी-भाव 'भय' है। इसका वर्ण कृष्ण और देवता काल (कृतान्त) है। भयोत्पादक की भीषण चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव हैं। विवर्णता, गद्‌गद-भाषण, प्रलाप, स्वेद, रोमांच आदि अनुभाव और जुगुप्सा, आवेग, संमोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, सम्भ्रम एवं मरण व्यभिचारी-भाव हैं। जिनसे परिपुष्ट होकर 'भय नामक स्थायी-भाव इस दशा को प्राप्त होता है। जिसकी अनुभूति सामाजिक को होती है, किन्तु 'भय' मूलत: आलम्बन की स्वसंवेदनीय दु:खात्मक अनुभूति है। इसमें असुरक्षा की भावना अन्तर्हित है। इसलिए भय का कारण उपस्थित होने या उसकी आशंका मात्र से व्यक्ति पलायन करता है। मनोवैज्ञानिक मैकडूगल ने 'पलायन' (Escape) को मूल प्रवृत्ति माना है। इसमें भय सा संवेग होता है। संवेग स्थायी भाव है, जो उद्दीपन के कारण उद्दीप्त होता है। यह व्यक्ति की उत्तेजित दशा है। जिसमें व्यक्ति दु:खात्मक अनुभूति करता है। विचार-शक्ति का लोप और असामान्य व्यवहार होता है। मूल प्रवृत्ति के तीन पहलू हैं - ज्ञानात्मक (Cognitive), संवेगात्मक (Affictive) और क्रियात्मक (Conative)। प्रथमतया किसी वस्तु अथवा स्थिति का ज्ञान होता है, फिर ज्ञान के कारण संवेग उत्पन्न होता है, तदनन्तर क्रिया होती है। 'पलायन' मूल प्रवृत्ति में भी यही प्रक्रिया संचालित है।

पलायन शारीरिक एवं मानसिक दोनों रूपों में हो सकता है। वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से भी इसकी अभिव्यक्ति सम्भव है। शारीरिक पलायन से मानसिक पलायन जटिल है। यह कुण्ठाओं का परिणाम है। पलायन की मानसिकता से पीड़ित व्यक्ति समाज से दूर भागता है। जीवन-संघर्षों से कतराता है। उसकी जिजीविषा मृतप्राय हो जाती है। मृत्यु की ग्रन्थि से ग्रसित वह सृजन की अपेक्षा विध्वंस की ओर प्रवृत्त होता है। उसका दर्शन मृत्यु, निराशा और अन्धकार का होता है पौरुषहीनता एवं मानसिक क्लीवता की आत्मघाती भावनाओं के वशीभूत अर्जुन की भाँति उसे अपने अधिकार और कर्तव्य का भी बोध नहीं होता। पलायन की ग्रन्थि को सामूहिक रूप से जब फूटने का अवसर मिलता है, तब वह स्थिति बड़ी दुखद होती है। यह समूची जाति की किम्पुरुषता और दासता के बन्धनों की सहर्ष स्वीकृति का प्रतीक है। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें जातीय गरिमा, सांस्कृतिक चेतना और नैतिक मान्यताएँ विस्मृत तथा उदात्त परम्पराएँ विलुप्त हो जाती हैं। अन्याय और अत्याचार पर सामाजिक आक्रोश प्रकट नहीं होता। सम्पूर्ण समाज उदासीन और कुण्ठाग्रस्त हो जाता है, जिसका प्रभाव कला एवं साहित्य पर भी पड़ना स्वाभाविक है। कुछ विद्वानों के मत में हिन्दी साहित्य के इतिहास का पूर्व-मध्य-कालीन भक्ति-साहित्य इसी मानसिकता का फल है, यद्यपि यह आरोप नितान्त मिथ्या है। तथाकथित सामाजिक यथार्थवादी आलोचक सामाजिक प्रतिबद्धता के नाम पर छायावादी तथा रहस्यवादी काव्यान्दोलनों की पृष्ठभूमि में भी सामूहिक पलायन की प्रवृत्ति देखते हैं। जो भी हो, यह तो निर्विवाद है कि भय की ग्रन्थि, व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के लिए घातक है।

कारणों के आधार पर भय कई प्रकार का हो सकता है जैसे - धर्म का भय, अधर्म का भय, जीवित का भय, मृतक का भय, लोक का भय, परलोक का भय, पराजय का भय, व्यक्ति का भय, समाज का भय, अकीर्ति का भय, मृत्यु का भय, शारीरिक क्षति का भय और जन तथा धन की हानि का भय आदि। भय तो सकारण होता है, पर कभी निष्कारण भी हो सकता है। निष्कारण भय अज्ञान पर आधारित होता है। इसके पीछे कुण्ठा का हाथ होता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसे फोबिया (Phobia) कहा है। फोबिया वैयक्तिक और सामूहिक भी हो सकता है। "फोबिया किसी वस्तु या परिस्थिति के प्रति असत् भय है, जो व्यक्ति के लिए वास्तविक खतरा उपस्थित नहीं करता अथवा खतरा वास्तविक स्थिति से बढ़े-चढ़े अनुपात में व्यक्त होता है।" (जेम्स सी. कोलमैन) फोबिया के शिकार व्यक्ति का भय किसी भी वस्तु, व्यक्ति, स्थान जीव और परिस्थिति के प्रति हो सकता है। वह यह जानता है कि उसका भय व्यर्थ है, फिर भी वह भय से मुक्त नहीं हो पाता। वह अपने आपको सुरक्षित अनुभव नहीं करता। फोबिया की प्रतिक्रियाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे अन्धकार से भय, जल से भय, अग्नि से भय, रक्त से भय, छिपकली से भय आदि यह उग्र मनोव्याधि है। मनोवैज्ञानिकों ने इसकी चिकित्सा खोजने के प्रयास किये हैं।

भय बुरा है। यह अनपेक्षित और अनावश्यक है, पर फिर भी कुछ लोगों के मत में इसका होना आवश्यक है। यदि गुण्डे को पुलिस का भय न हो तो वह मनमानी करेगा। स्वेच्छाचारी को सामाजिक व राजकीय दण्ड ही नियंत्रित करता है। यशस्वी पुरुष को अपयश का भय अनुशासित रखता है। जबकि प्रेम आत्मा का गुण है, उसका धर्म है, तो भी महात्मा तुलसी ने 'भय बिनु होइ न प्रीति' कहकर भय को ही प्रेम का भी आधार माना है। कठोपनिषद् में लिखा है कि अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु उस परब्रह्म परमात्मा के भय के कारण ही अपनी क्रियाएँ निष्पादित करते हैं –

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥(३/३)

हम चारों ओर भय से घिरे हैं। हमारा समूचा वातावरण हमें भयभीत कर रहा है। हमारे वय:कुसुम को भी कालकीट हर समय काट रहा है। मृत्यु का भय सामने है। अत्याचारी-कौरव हमें लड़ने के लिए ललकार रहे हैं। कर्तव्य-बोध हमारी उदासीन चेतना को झकझोर रहा है। इस भय-भव-सिन्धु को तरने का क्या कोई उपाय है? –

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं,
का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः।
जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भो
संसार दुःखक्षतिमातनुष्व॥

हाँ, इसका उयाय है –

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्ति नाशः
संसार-सिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं
तमेव मार्गं तव निर्दिशामि॥

– "हे विद्वन्, मत डरो। तुम्हारा नाश नहीं है। इस संसार-सिन्धु, भव-सिन्धु के तरण का उपाय है, जिसे अपनाकर यतिजन इसके पार गये हैं। वही मार्ग मैं तुम्हें बता रहा हूँ।"

अर्जुन कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रांगण में खड़े हैं। कौरवों और पाण्डवों की सेनाएँ आमने-सामने हैं, जिनमें उसके चाचा, ताऊ, दादा, मामा, भाई, बेटे, पोते, आचार्य और मित्र आदि सम्मिलित हैं। उन्हें देखकर अर्जुन घबरा गये हैं, भय से काँपने लगे हैं, बाण चढ़ाकर ताने हुए धनुष को ढीलाकर युद्ध न करने की इच्छा से रथ में बैठ गये और भगवान श्रीकृष्ण से आन्तरिक भय छिपाकर पण्डितों की भाषा में बातें करने लगे – "हे मधुसूदन, मैं तीनों लोकों के राज्य के लिए भी अपने इन सम्बन्धियों को नहीं मार सकता। इन आततायियों को मारने से पाप ही तो लगेगा, कुछ भला तो होने का नहीं।"

भगवान ने उसके हृदय-गह्वर में निहित भय को निकालने के लिए अपने विश्वरूप को प्रकट किया। भगवान का वह विश्वरूप आदिमध्यान्त हीन है। उसका कोई ओर-छोर नहीं है। वह सम्पूर्ण दिशाओं में परिव्याप्त है। जिसके अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनन्त उदर अनेक बाहु और हजारों पैर हैं। भुजाएँ अनेकानेक अलंकार तथा आयुधों से सज्जित हैं। हजारों सूर्यों से भी अधिक भास्वरित तेज है। विकराल दाढ़ें हैं, जिनमें धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि योद्धा लटके हैं। मुखों से निकलती भीषण ज्वालाएँ सम्पूर्ण लोकों को चाट रही हैं। लोकों का नाश करने वाले भगवान का यह रूप अत्यन्त घोर है, भयावह है, जिसे देखकर अर्जुन की घिग्घी बँध जाती है। वह पूछता है – **'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपः'** – हे भगवन्, उग्ररूप वाले आप कौन हैं?

विश्वरूप भगवान ने उत्तर दिया कि – 'मैं सम्पूर्ण सृष्टि का नाश करनेवाला काल हूँ। इस समय लोकों का समाहार करने के लिए ही मैं वर्द्धित हूँ।' यह सुनकर अर्जुन की स्थिति और भी बिगड़ गई। उनका मन भय से व्याकुल हो गया। वे काँपने लगे। बार-बार प्रणाम कर भूलचूक में हुए अपराध की क्षमा माँगते हुए उसी सौम्य रूप को धारण करने की प्रार्थना की। परम कृपालु भगवान ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा – "हे अर्जुन, तू मेरे इस घोर रूप को देखकर विचलित मत हो, अज्ञानता के जाल में न फँस और विगतभय होकर प्रसन्न मन से मेरे सुदर्शनीय सुन्दर स्वरूप को देख।" एतदनन्तर भगवान ने अपने मूल सौम्य स्वरूप को धारण कर लिया।

अर्जुन पूर्व से ही भयभीत था। उसे अपना काल रूप दिखाकर भगवान ने और अधिक भयभीत क्यों बनाया? – **कण्टकस्य कण्टकेनैव शोधनं भवति** – 'काँटा काँटे से ही निकलता है' की नीति का अनुसरण करते हुए अर्जुन को भय से भय के द्वारा मुक्त किया। उसकी मनोव्याधि का यह मनो-वैज्ञानिक निदान था। अर्जुन अहंकार और ममत्व के अन्ध-सागर में डूबा था। वह अपने आपको मारनेवाला मान रहा था और मोह में आसक्त था। उसे अज्ञान था। इसीलिए उसे भय था। जिससे छुटकारा उसे तब मिला, जब उसने देख लिया कि असली मारने वाले तो भगवान स्वयं हैं। वह तो एक निमित्त है। जो क्षर है, जो असत् है उसे वह सत्य मानकर उसमें आसक्त है। जिसका उसे अभिमान है, वह देह क्षर है। अक्षर आत्मरूप है। अविनाशी आत्मचेतन और सांसारिक बन्धनों से परे है, वह ज्ञाता, क्षेत्रज्ञ तथा भौतिक प्रपंच का आधार है। वह निर्द्वन्द्व, निर्मोह, निरासक्त, निर्जर, निरवधि, निरभिलाष और निरहंकार है। अतएव निर्भय है –

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं
धीरमजरं युवानम्। (अथर्ववेद, १०/८/४४)

– "उस धीर, अजर और चिर-युवा आत्मा को जाननेवाला विद्वान् मृत्यु से नहीं डरता।" जिस व्यक्ति में यह भाव है वह आत्मरूप है उसमें फिर भय का निवास कहाँ है?

जिस व्यक्ति में यह भाव है कि वह आत्म-रूप है, उसमें फिर भय का निवास कहाँ? भय तो वहीं रहता है, जहाँ कोई कामना होती है, एषणाओं की कादम्बिनी जीवन-सूर्य को आच्छादित कर लेती है, प्राप्तव्य में विघ्न के सचेतन कारण की आशंका से बैर का राहु प्रीति के चन्द्र को ग्रस लेता है, अंहकार का दर्पण आत्मसंमोह और ममता का पारद आसक्ति को उत्पन्न करता है। अज्ञान का अन्धकार विवेक-दीपक को निगल लेता है। जिस प्रकार बिल्ली का बच्चा अपने आपको पूरी तरह माँ को समर्पित हो जाता है, तब बिल्ली उसे अपने मुँह में दबाकर जहाँ-तहाँ कूदती फिरती है। बच्चा न कहीं गिरता है और न उसे दाँत ही लगते हैं। इसी प्रकार मानव जब परमपिता परमात्मा को सर्वात्मना समर्पित हो जाता है, तब उसके योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व – **योगक्षेमं वहामि अहम्** (९.२२) की प्रतिज्ञा के अनुसार प्रभु स्वयं वहन करते हैं, फिर उसे भय नहीं रहता। वह तो निर्भीक हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है – मृत्यु से डर कर देवताओं ने ऋक्-यजु: और सामरूपी तीनों वेदों में प्रवेश किया। उनका आश्रय लिया, ताकि मृत्यु की दृष्टि उन पर न पड़े, पर मृत्यु ने उन्हें वहाँ भी देख लिया। तत्पश्चात् वे स्वर-प्रणव में प्रविष्ट हो गये। उन्होंने नाद-तत्त्व, जो अक्षर-तत्त्व है, उसका आश्रय ले लिया और मृत्यु से बच गये। उन्हें सहज ही परम गति प्राप्त हो गई।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ।।
(गीता ८.१३)

जो अव्यक्त, अक्षर और अविनाशी है, वही परमधाम और ब्रह्मनिष्ठा है। जहाँ से जीव पुन: इस भवचक्र में नहीं आते –

अव्यक्ताक्षर इत्युक्तस्तमाहु: परमां गतिम्।
मां प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।
(गीता ८.२१)

भय-अभय के भाव तो उसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। जिससे यह सम्पूर्ण सृष्टि-चक्र प्रवर्तित है। अत: बुद्धिमान् उसकी शरण में पहुँचकर निर्भय हो जाते हैं। (१०/४,५,८)

भय का निवास है मन में। मन यदि कमजोर है, तो हम अपनी ही छाया से डरने लगते हैं। जब तक हम अपने मन को सबल नहीं बनायेंगे, तब तक जीवन में आनेवाली कठिनाइयों पर विजय नहीं पा सकते। जीवन जीने का अधिकार उसी को है; जो सर्वात्मना सबल है, बाधाओं से जूझता है और संघर्षों को झेलता है। बलशाली को ही आत्म-तत्त्व – अक्षर-तत्त्व की प्राप्ति होती है, बलहीन को नहीं – **नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:।**

अक्षर-तत्त्व की नित्यता और क्षर-तत्त्व की अनित्यता के बोध के साथ इन दोनों से श्रेष्ठ पुरुषोत्तम तत्त्व की शरण में जाने से मन अपनी चंचलता को छोड़ देता है – **हरि-चरण-भक्ति-योगान्मन: स्ववेगं जहाति शनै:।**

भगवान् की शरण का तात्पर्य कर्तव्य कर्म का त्याग नहीं है, अपितु कर्तृत्व के अभिमान का विसर्जन कर कर्म-फलों को प्रभु के लिए समर्पित करना है। जीव को सम्पूर्ण भयों से मुक्त करना भगवान का स्वभाव है। मन की दृढ़ता सदाचरण से आती है। असदाचारी सदैव शंकालु और भयभीत रहता है, जबकि आचारवान को कभी कहीं भय नही होता –

सदाचारवतां पुंसां सर्वत्राप्यभयं भवेत्।
तद्वद् आचार-हीनानां सर्वत्रापि भयं भवेत् ।।

सदाचार से अन्त:करण पवित्र होता है। जिससे मन के दर्पण पर काली छाया (Shadow Image) नहीं पड़ती। भूत-प्रेतादि का भय उसी काली छाया का परिणाम है। मन की दुर्बलता का प्रतीक है।

सामूहिक भय किसी समाज को तब अभिभूत करता है, जब वह अपनी सांस्कृतिक विरासत को खोकर विलासिता को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान लेता है। पूर्वजों के त्याग, बलिदान तथा वीरत्व की पुरातन कथाएँ विस्मृत कर फरिश्तों और हूरों के किस्सों को जीवन की वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है। जब एकता विभाजित, राष्ट्रीयता विखण्डित, जातीय अहं विसर्जित और जातीय व्यक्तित्व विघटित हो जाता है, तब जाति की जिजीविषा सामूहिक भय की कुण्ठा के धूम से आच्छन्न हो जाती है। हीनता का तुषार जीवन-वल्लरी को आहत कर देता है। फिर उस अतीत की परम्पराओं की ओर लौटना पड़ता है। जातीय गौरव को जगाना पड़ता है। निर्भीक नचिकेता की भाँति मृत्यु के देवता यमराज से भी अमृतत्व का उपदेश लेकर मृत्यु का उपहास करना पड़ता है। एकता के व्रत की दीक्षा लेकर अखण्डता की रक्षा करनी पड़ती है। तभी वह समाज सामूहिक भय की कुण्ठा से मुक्त हो पाता है।

निश्चय ही भय, चाहे वह किसी प्रकार का हो, सर्वथा अवांछनीय है। वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है –

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यत:।
एव मे प्राण मा बिभे:।। (अथर्ववेद १२/१५/१)

– "जिस प्रकार आकाश और पृथ्वी नहीं डरते और न दु:ख देते हैं, वैसे ही मेरे प्राण भी न डरें।"

तावद् भयाद् भेतव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नर: कुर्यात् यथोचितम् ।।

– "व्यक्ति भय से तभी तक डरता रहे, जब तक वह आ न जाय। आने पर तो उसका यथोचित प्रतिकार करना चाहिए।"

❖ (क्रमश:) ❖
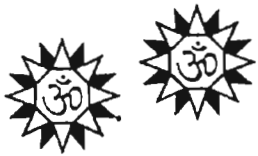
अपने सृजन से गुज़रते हुए
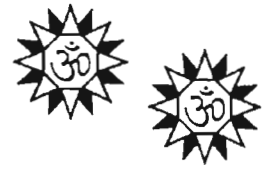
नरेन्द्र कोहली

(स्वामी विवेकानन्द के जीवन व चिन्तन पर ४ खण्डों में प्रकाशित उपन्यास 'तोड़ो, कारा तोड़ो' के परिप्रेक्ष्य में आत्मकथ्य – सं.)

स्वामी विवेकानन्द के जीवन की घटनाओं पर आधृत उपन्यास '**तोड़ो, कारा तोड़ो**' में बहुत सारी सीमाओं में बँधकर मौलिक सृजन हुआ है। स्वामीजी निकट अतीत के पात्र हैं; और उनके विषय में प्राय: सारे लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। कल्पना का अवकाश न होने पर, उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर ही मुझे मौलिकता उत्पन्न करनी थी। ऐसे में एक आधिकारिक जीवन-कथा को उपन्यास के रूप में ढालने की चुनौती से मुझे जूझना पड़ा। मैं ऐसी किसी घटना की कल्पना अथवा रचना नहीं कर सकता था, जो स्वामीजी के जीवन में घटित ही न हुई हो।

जन्म, मृत्यु, धर्म आदि से सम्बन्धित प्रश्न प्रत्येक युग में उठते हैं · जीवन क्या है? मृत्यु क्या है? ईश्वर क्या है? धर्म का वास्तविक रूप क्या है? ... ये सारे प्रश्न किसी काल-विशेष अथवा समकालीनता तक सीमित न होकर जीवन को उसकी सार्वकालिकता में जाँचते-परखते हैं। ये शाश्वत प्रश्न हैं। जीवन के वास्तविक रूप, धर्म और सत्य सम्बन्धी, इन प्रश्नों को समय-समय पर उठाया गया है। कभी राम, कृष्ण या युधिष्ठिर के माध्यम से और कभी बुद्ध, शंकर, अरविन्द, रामानुजाचार्य अथवा दयानन्द सरस्वती के माध्यम से। ... ऐंसे में प्राय: मुझसे प्रश्न किया जाता है कि **उपन्यास लिखने के लिए मैंने स्वामी विवेकानन्द के चरित्र को ही क्यों चुना?**

यह प्रश्न किसी भी कथानायक के विषय में पूछा जा सकता है। मैं किसी अन्य प्रख्यात पात्र को नायक बनाकर उपन्यास लिखता, तो भी यह प्रश्न पूछा जाता। मैं अपने मन को टटोलता हूँ कि मैंने इन्हीं चरित्रों को क्यों चुना, तो पाता हूँ कि लेखक के अपने मन में ... प्रत्यक्ष हो या प्रच्छन्न ... कुछ विशिष्ट चरित्रों के विषय में आत्मीयता, स्नेह और निकटता के भाव होते हैं। इसका आधार कदाचित् कुछ सिद्धान्तों को लेकर होता है। पर वे सिद्धान्त भी तो कहीं अपने स्वभाव, अपनी प्रकृति से सम्बन्धित होते हैं। अपने आदर्शों के उन्नायक चरित्र, लेखक को अधिक प्रिय होते हैं। सबकी अपनी रुचियाँ हैं। अपनी रुचि के पात्र, अपने प्रीतिकर पात्र का ध्यान आते ही लेखक न केवल उसकी ओर आकृष्ट होता है, वरन् उस पर मनन भी करता है। जब वह मनन फलीभूत होता है, तो स्वत: ही सृजन होने लगता है। वह चरित्र और उससे सम्बन्धित घटनाएँ जीवन्त होने लगती हैं। उन सूक्ष्म घटनाओं पर, जैसे हाड़-मांस उग आता है; और वे स्थूल रूप में भी लेखक के मन में आकार लेने लगती हैं।

मेरे मन में किसी समय यह शंका भी थी कि एक संन्यासी के जीवन पर आधृत उपन्यास पाठक के लिए तनिक भी आकर्षक हो सकेगा क्या? संन्यासी के जीवन में योग होगा, ध्यान होगा, तपस्या होगी, साधना होगी, भ्रमण होगा, उपदेश होंगे। इससे अधिक क्या होगा? किन्तु **यह शंका तभी तक थी, जब तक मैं स्वामी विवेकानन्द के जीवन के विषय में कुछ विशेष जानता नहीं था।** वैसे तो साधना और तपस्या भी एक आकर्षक आध्यात्मिक यात्रा है। .... किन्तु स्वामीजी के जीवन में और भी बहुत कुछ है अपने व्यक्तिगत विकास के लिए इच्छा, एक लक्ष्य – ईश्वर – तक पहुँचने की उत्कण्ठा तथा प्रयत्न, सामाजिक समस्याओं, सांसारिक बन्धनों, देश के प्रश्नों, अध्यात्म की जटिलताओं, राजनीति से उद्भूत देश और समाज के लिए कठिनाइयों के विषय में चिन्तन, संवाद और तर्क, और अन्त में उन सबका समाधान। यह सब उनके जीवन में है। इसके पश्चात् भ्रमण है। इतना वैविध्य है उनके जीवन में। इतने प्रकार के लोगों से मिलना, उनकी समस्याओं पर विचार करना। एक व्यक्ति नहीं, वहाँ तो जैसे एक पूरा समाज है, जो संघर्षरत है। बन्धनों को पहचानने के लिए और उन बन्धनों को तोड़ने का प्रयास करने के लिए, उनसे मुक्ति पाने के लिए, उनसे जूझने के लिए। **संन्यासी की एक परम्परागत शुष्क और नीरस छवि है; किन्तु नीरसता और शुष्कता का, संसार से विमुख एक निष्क्रिय जीवन का – स्वामीजी के जीवन से कहीं कोई मेल नहीं है।**

'तोड़ो, कारा तोड़ो' में उन्हीं प्रसंगों का समावेश हुआ है, जो स्वामीजी की विभिन्न प्रामाणिक जीवनियों मे उपलब्ध हैं। कल्पना से उसे आकर्षक बनाने या उनमें कुछ और नया जोड़ने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता। उससे ऐतिहासिकता खण्डित होती है। स्वामीजी के शिष्य सावधान हैं। उपन्यासकार द्वारा की गई कल्पना के सन्दर्भ में, रामकृष्ण मठ, विवेकानन्द केन्द्र या इस प्रकार की संस्थाओं की ओर से प्रश्न किया जा सकता है कि उपन्यासकार के पास क्या प्रमाण है कि ऐसा ही हुआ था? या ऐसा नहीं हुआ था? दूसरी ओर सब कुछ प्रामाणिक रूप से उपलब्ध होने का एक ही लाभ है कि आप उस जीवन के विषय में सब कुछ जानते हैं, तो उसके साथ तादात्म्य करके, उसको और अधिक तर्कसम्मत, प्रामाणिक तथा स्वाभाविक रूप से चित्रित कर सकते हैं। जीवनी हमको सूचनाएँ देती है। उपन्यासकार उन सूचनाओं को, सुने हुए को, पढ़े हुए को, अपने मनन से सजीव रूप में देखता है; और जब अपने देखे

हुए का चित्रण करता है, तो निश्चित रूप से वे केवल सूचनाएँ मात्र नहीं रह जाती। जो पहले से ज्ञात है, उसे विकृत अथवा परिवर्तित किए बिना, उसकी सीमाओं के भीतर ही उपन्यासकार मौलिकता उत्पन्न करता है। यहीं कलाकार की प्रतिभा और कला की परीक्षा होती है। नया कुछ नहीं जोड़ना है, पुनरावृत्ति भी नहीं करनी है, जो कुछ पहले से उपलब्ध है, उसे ही मौलिक रूप में प्रस्तुत करना है। जितने भी जीवनीपरक उपन्यास लिखे जाते हैं, उन सबके सामने यह चुनौती वर्तमान होती है। जीवनीकार अपने नायक से सम्बन्धित सूचनाओं को क्रम से सँजोकर कह देता है। बाह्य जीवन में जो घटनाएँ घटित हो रही हैं, वे लिखे जाते है; किन्तु नायक के मन में क्या है, यह जानने का प्रयत्न जीवनीकार नहीं करता। नायक ने यदि अपने मन की बात किसी से कही है, या उसका कोई प्रमाण उपलब्ध है, तो जीवनकार उसको ग्रहण करेगा, अन्यथा वह उसकी कल्पना नहीं करेगा।

उपन्यासकार पहले यह सोचेगा कि नायक के मन में क्या है? उपन्यासकार उस चरित्र को समग्रता में ग्रहण करता है। बाहर-भीतर, मन और कर्म – सब कुछ देखता है। मन की बात – आभ्यन्तरिक जीवन की कल्पना तो उपन्यासकार ही करेगा। बाहरी क्रिया-कलाप को तर्कसंगत ढंग से जोड़ना ही है, तो निश्चित रूप से यह भी सोचना होगा कि उस समय नायक के मन क्या था। नायक के कर्म का कारण, उसका उद्देश्य, उसकी प्रासंगिकता – सबको उनकी पूर्णता में चित्रित करना होगा। **यह उपन्यास लिखते हुए मैंने पाया कि बहुत सारी बातों पर जीवनीकार का ध्यान ही नहीं जाता।** ... स्वामी विवेकानन्द की बहनों को कैसी और कितनी शिक्षा मिली? उनका विवाह कब हुआ? अपने मायके से वे कब ससुराल चली गयीं? स्वामीजी के पिता के देहान्त के पश्चात्, भाई-बहनों का दायित्व, स्वामीजी पर आ पड़ा। लेकिन तब उस घर में कितने भाई-बहन थे? और फिर हम देखते हैं कि वहाँ केवल भाई ही हैं, बहनें हैं ही नहीं। तो बहनों के विवाह कब हुए? उनकी जिस बहन ने अपने ससुराल में आत्महत्या कर ली थी, वह कौन थी? उसका नाम क्या था? उसने आत्महत्या क्यों की? यह सब खोजना पड़ता है। स्वामीजी एक खोह या गुफा जैसे कमरे में रह रहे हैं, उस स्थान को 'तंग' की संज्ञा दी गई है। प्रश्न उठता है कि इतने तंग कमरे में रहने को वे क्यों बाध्य थे, जबकि उनका अपना घर राजसी प्रासाद के समान था? विश्वनाथ के देहान्त के पश्चात् अकस्मात् ही वे लोग इतने निर्धन क्यों हो गए? उसका कोई तो कारण होगा। विश्वनाथ के पास इतना धन था, उनका देहान्त हो गया तो कुछ भी नहीं बचा? उपन्यासकार की दृष्टि से कथानक को ठीक बैठाने के लिए, या कथानक के निर्माण के लिए, जब ये प्रश्न मेरे मन में उठे, और उन प्रश्नों के विषय में मैंने सोचा, तो उन्हीं जीवनियों में इधर-उधर से कहीं बहुत छोटे-छोटे संकेत उपलब्ध होते गए। ज्ञात हुआ कि विश्वनाथ मुक्तहस्त व्यय करते थे। जिस समय वे रायपुर में थे, उनके अपने सहयोगी ने रुपए-पैसों की गड़बड़ की थी। फर्म के नाम पर ऋण लेकर, चुकाया नहीं था। वह ऋण विश्वनाथ के कन्धों पर आ पड़ा था। उनके चाचा-चाची तथा उनका परिवार – स्वामी विवेकानन्द तथा उनके परिवार का विरोधी था। उनको उनके भाग का एक पैसा तक देना नहीं चाहता था। ऐसे में उन्हें भवन तथा सम्पत्ति में से उनका अंश कैसे मिलता। ध्यातव्य है कि भुवनेश्वरी देवी, नरेन्द्र से उन लोगों की चर्चा करते हुए, 'तुम्हारे पिता के सम्बन्धी' शब्दों का प्रयोग करती हैं।

मैं यह नहीं कहता कि जीवनियों में इन तथ्यों के संकेत नहीं हैं। न होते, तो मुझे वे कहाँ से मिलते। वहाँ या तो इन बातों की चर्चा नहीं है, या फिर इतने नगण्य रूप में हुई है कि वे उभर कर सामने नहीं आते और पूरा चित्र नहीं बनता। कोई पाठक सपाट ढंग से जीवनी पढ़ जाए और इन प्रश्नों के विषय में गम्भीरता से न सोचे, तो उसे आभास भी नहीं होगा कि यह सब हुआ था। उस जीवन तथा उसके आस-पास के समाज को समग्रता से देखने के लिए उपन्यासकार, कथानक के रूप में, बहुत सारे उपकरणों को जोड़ता है। जहाँ अन्तराल हैं, जहाँ अवकाश हैं, जहाँ कुछ छूट गया है – उन सबकी कल्पना करता है। और उन सबको सजीव रूप में अनुभव कर चित्रित करता है। परिणाम-स्वरूप कृति उपन्यास का रूप धारण करती है। जीवनी से पर्याप्त भिन्न और आकर्षक भी बन पाती है।

इस उपन्यास में रामकृष्ण परमहंस का चरित्र भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना स्वयं स्वामी विवेकानन्द का; क्योंकि उन्हीं के माध्यम से स्वामीजी के जीवन का लक्ष्य निर्धारित होता है। रामकृष्ण परमहंस का प्रवेश उपन्यास में तब करवाया है, जब वे समाधि की सारी अवस्थाएँ पार कर सर्वसिद्ध हो चुके थे। उनकी साधना से सिद्धि तक के मध्य की अवधि के संघर्ष को मैंने उपन्यास में चित्रित नहीं किया है। यदि मैं इस उपन्यास में रामकृष्ण परमहंस को उनके जन्म अथवा शैशवावस्था से लेता, उनकी साधना का चित्रण करता, तो यह उपन्यास स्वामी विवेकानन्द के विषय में न होकर, रामकृष्ण परमहंस के विषय में होता। उनकी साधना को केन्द्र में रखकर जो कृति रची जाएगी, उसमें स्वामी विवेकानन्द, ठाकुर के शिष्य मात्र के रूप में, उनकी परम्परा के वाहक का ही काम करेंगे; और उनका महत्त्व भी उसी रूप में होगा। भगिनी निवेदिता को नायिका बनाकर उपन्यास लिखना हो और कृति को स्वामी विवेकानन्द के जन्म अथवा उनकी साधना से आरम्भ करें, तो उसमें भगिनी निवेदिता किसी भी प्रकार उस कृति की नायिका नहीं बन पाएँगी।

अत: उपन्यास में रामकृष्ण परमहंस का वहीं प्रवेश कराया गया है, जहाँ नरेन्द्रनाथ दत्त के जीवन में उनका प्रवेश हुआ था। तब तक वे पूर्णत: सिद्ध पुरुष हो चुके थे।

उपन्यास में नरेन्द्र अपने भीतर आध्यात्मिक रहस्यों का अनुभव करता है, जबकि आज के भौतिकवादी संसार में बौद्धिकता और तर्कशीलता के बाहुल्य के कारण, ईश्वर के अस्तित्व तक पर प्रश्नचिह्न लगा हुआ है। ऐसे में बार-बार यह कहा जा सकता है कि क्या पाठक इस अध्यात्म को स्वीकार कर पाएगा? इससे ऐसा लगता है कि जैसे ईश्वर कोई अबौद्धिक अवधारणा हो, कोई तर्कशून्य बात हो। ... किसी भी देश में दो प्रकार के लोग सदा से रहे हैं ... एक वे जो ईश्वर को मानकर चले हैं, जिन्होंने ईश्वर को खोजने का प्रयत्न किया है, ईश्वर को देखा है, पाया है, ईश्वर का अनुभव किया है; उसके अस्तित्व की कोई ऐसी अस्पष्ट अबूझ अनुभूति पाई है कि वे उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए तड़पते रहे हैं। दूसरी ओर वे लोग हैं, जिन्हें ईश्वर की अनुभूति नहीं हुई, ईश्वर की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ, ईश्वर के विषय में कोई जिज्ञासा नहीं जगी, उनको उसका कोई प्रमाण नहीं मिला। कुछ ने तो उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया, और कुछ ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि ईश्वर जैसा कोई अस्तित्व ही नहीं है। ...

यह केवल आज की ही बात नहीं है। सदा से संसार ऐसा ही रहा है। हमारा जो प्राचीनतम साहित्य उपलब्ध होता है, उसमें भी आसुरी और दैवी बुद्धि, आसुरी और दैवी सम्पदा, आसुरी और दैवी दृष्टिकोण – दोनों ही सामने आते हैं। दैवी दृष्टिकोण यह मानता है कि ईश्वर की निश्चित सत्ता है, जो परम शासक है; उसके नियंत्रण और शासन में ही यह संसार चल रहा है। आसुरी बुद्धि का यह प्रयत्न रहा है कि जितना उसको अपनी ज्ञानेन्द्रियों से समझ में आता है, प्रत्यक्ष होता है, उसी को सत्य माने; जैसे मनुष्य की बुद्धि ही सृष्टि की चरम सीमा हो, उसके परे कुछ हो ही नहीं।

अब प्रश्न यह है कि क्या पाठक इस आध्यात्मिकता को स्वीकार करेगा? नहीं करेगा, तो आध्यात्मिक उपन्यास लिखने का क्या प्रयोजन? प्रश्न यह भी है कि क्या संसार का प्रत्येक व्यक्ति, उपन्यास पढ़ता है? ऐसा नहीं है। अपनी-अपनी रुचि है, अपना-अपना स्वभाव है, अपनी-अपनी प्रकृति है। जो लोग साहित्य पढ़ते हैं, उनमें से कुछ कविता पढ़ते हैं, कुछ उपन्यास पढ़ते हैं, कुछ नाटक पढ़ते और देखते हैं, कुछ लोग दर्शन अथवा शास्त्र को पढ़ते हैं। उपन्यास के पाठकों में भी दोनों प्रकार के लोग होंगे। जिनकी ईश्वर के विषय में जिज्ञासा होगी, रुचि होगी, ईश्वर के साथ तादात्म्य हो सकेगा – वे उसे पढ़ेंगे। संसार का कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जिसको हर प्रकार का व्यक्ति पढ़ता हो। यह अपेक्षा तो है ही नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इसे पढ़े। जो पाठक इस विषय से, इस नायक से, इस चिन्तन से तादात्म्य कर सकेंगे, वे ही इसे पढ़ेंगे। उनके भीतर कहीं अध्यात्म होगा, तभी वे इससे तादात्म्य कर पाएँगे। हर कृति अपने पाठक ढूँढ़ लेती है, हर पाठक अपनी रुचि के अनुसार अपनी कृति ढूँढ़ लेता है। इस कृति के साथ भी यही होगा।

वैज्ञानिक युग वाली बात भी लगभग बौद्धिक युग के समकक्ष ही है। मानव सभ्यता के विकास के इतिहास को देखा जाए, तो प्रत्येक युग भौतिक सच्चाइयों को जानने का प्रयत्न करता रहा है, जिसको हम वैज्ञानिक विकास कहते हैं – चाहे उसकी गति जो भी रही हो। एक ओर उसने उन पशुओं को ढूँढ़ा, जिनकी पीठ पर बैठकर वह यात्रा कर सकता था, या फिर पहिए का निर्माण किया, जिससे गाड़ी बनाई जा सके और उसकी गति तीव्र हो सके। दूसरी ओर प्रकृति के सूक्ष्म नियमों और रहस्यों को जानने का प्रयत्न किया गया। सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण – सारा का सारा खगोल या नक्षत्रों की गतिविधि को जानने का प्रयत्न हुआ। क्या वे सारे युग वैज्ञानिक नहीं थे? उस युग में उन्होंने अपने ज्ञान को बढ़ाने का और सृष्टि के विषय में जानने का जो कुछ प्रयत्न किया, वह विज्ञान ही था।

कुछ लोगों ने आत्मा और परमात्मा के विषय में जानने का प्रयत्न किया, जीवन और मृत्यु का परिचय प्राप्त करना चाहा। क्या नश्वर है, क्या अनश्वर है – इसका पता लगाने का प्रयत्न किया। ज्ञान कुछ भौतिक प्रयोगों से प्राप्त होता है; और कुछ हमारे देश की विशेष पद्धति – ध्यान – के माध्यम से। ध्यान में चिन्तन से परे अपने भीतर जाकर, अन्तत: समाधि में पहुँचकर, उसने इन्द्रियातीत अनुभूतियों से इसको जाना। **आज के युग में ऐसी कोई विलक्षणता नहीं है कि अध्यात्म, धर्म या ईश्वर की बात न की जा सके।** संसार और अध्यात्म – दोनों समानान्तर धाराएँ हैं। अध्यात्म भी पूर्णत: विज्ञान-संगत क्षेत्र है। अन्तर इतना ही है कि उसका ज्ञान किसी भौतिक प्रयोगशाला में उस प्रकार से प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे भौतिक विज्ञानों का होता है। किन्तु उसकी अपनी प्रयोगशाला है – मनुष्य का मन और शरीर। साधना के अपने सोपान हैं। व्यक्ति अपने गुरु अथवा स्वयं से अधिक अनुभवी व्यक्ति से क्रमश: सीखता है; और अपने ऊपर उस ज्ञान का प्रयोग कर, अपना विकास करता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था ... जो कुछ मैं कहता हूँ उसका अभ्यास करो, और जो निष्कर्ष तुम्हारे सामने आए, उसे सत्य मानो। मेरे निष्कर्षों को सत्य मत मानो, अपने प्रयोगों से पाए हुए ज्ञान को ही सत्य मानो। ...

अपने शरीर और मन के साथ प्रयोग करने के पश्चात् जो अनुभव व्यक्ति को होता है, उसे वह सत्य मानेगा – यह पूर्णत: वैज्ञानिक बात है। मैं इसे तनिक भी अवैज्ञानिक नहीं मानता। हाँ, **जब धर्म के नाम पर, यह कहा जाए कि प्रश्न मत पूछो, प्रयोग मत करो, मतभेद मत करो,**

किसी नए ढंग से मत सोचो – तो यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक हो सकता है; किन्तु यह धर्म नहीं है। उपनिषदों की पूरी परम्परा यही है कि जिज्ञासा करो, तर्क करो। स्वामी विवेकानन्द छह वर्षों तक अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के पास जाते रहे। छह वर्ष निरन्तर तर्क करते रहे, बहस करते रहे, विवाद करते रहे। गुरु के निर्देशानुसार कुछ पढ़ा भी, कुछ नहीं भी पढ़ा; कुछ माना भी, कुछ नहीं भी माना। प्रयोग करते रहे और अन्तत: जब गुरु की मान्यताओं को अपने शरीर, मन, बुद्धि, साधना और तर्क से प्रमाणित कर लिया, तब स्वीकार किया और पूर्णत: स्वीकार किया। इसीलिए धर्म भी पूर्णत: वैज्ञानिक क्षेत्र है।

'तोड़ो, कारा तोड़ो' में अनेक चामत्कारिक घटनाओं को मैंने आध्यात्मिक तर्क से सिद्ध किया है, जबकि अपने ही अन्य पौराणिक उपन्यासों – 'अभ्युदय' (राम-कथा) और 'महासमर' (महाभारत-कथा) आदि में मैंने अविश्वसनीय चामत्कारिक घटनाओं का वैज्ञानिक ढंग से समाहार किया है। ... इस प्रकार 'तोड़ो, कारा तोड़ो' तक आते-आते मेरे दृष्टिकोण में कुछ अन्तर आया है। इस अन्तर को दो-तीन धरातलों पर देखना पड़ेगा। पहली बात तो यह है कि रामायण और महाभारत की कथाएँ, इतनी प्राचीन हैं कि उनकी स्वाभाविक प्राकृतिक घटनाएँ भी क्रमश: चमत्कारों में बदलती चली गई हैं। अत: यह आवश्यक हो जाता है कि उन चरित्रों के जीवन को (जिन्हें हमारा साधारण जन किसी और लोक का जीवन मान बैठा है) सामान्य हाड़-मांस के जीवन के रूप में, साकार और जीवन्त किया जाए। उनके जीवन का स्वाभाविक प्राकृतिक रंग जैसे छूट गया था, और केवल असाधारण, चामत्कारिक तथा अलौकिक घटनाएँ ही अपना आधिपत्य जमा बैठी थीं। पति-पत्नी का सम्बन्ध, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, भाइयों का सम्बन्ध या साधारण मनुष्य के रूप में प्रेम, स्नेह, घृणा, विरोध, द्वेष आदि भावनाएँ, जैसे विलीन हो गई थीं। उन चरित्रों को स्वाभाविक जीवन के निकट लाने के लिए आवश्यक था कि उनके चारित्र्य पर से चमत्कार का पर्दा जरा-सा हटा दिया जाए। उन पर पड़ी रेणु को झाड़ा जाए, समय की परत को छीला जाए; और सामान्य मनुष्य के मनोविज्ञान तथा प्रकृति के नियमों के अधीन, जो स्वाभाविक चारित्र्य होना चाहिए, उसको प्रस्तुत किया जाए।

हम 'चमत्कार', 'असाधारण' तथा 'अलौकिक' – शब्दों का भी विश्लेषण कर लें। जो घटना सामान्यत: घटित हो नहीं सकती, उसे कार्य-कारण के नियम से मुक्त कर, इस प्रकार घटित होते दिखा दिया जाए कि सुननेवाला, देखनेवाला या पढ़नेवाला दंग रह जाए – वह चमत्कार है। दूसरी ओर जो लौकिक नहीं है, साधारण मनुष्य के समान नहीं है, अलौकिक है, आध्यात्मिक है, उसका मन-चिन्तन-कर्म भी लौकिक लोगों से भिन्न होता है। अत: वह चरित्र भी असाधारण होता है। एक साधारण व्यक्ति सुबह उठकर, नहा-धोकर, खा-पीकर, तैयार होकर, कार्यालय या दुकान या जो भी उसका कार्यस्थान है, वहाँ जा बैठता है; और दिन भर सोचता है कि मुझे पैसा कैसे कमाना है, किस प्रकार अधिक-से-अधिक धन-सम्पत्ति एकत्रित करनी है, इसे हम लौकिक जीवन कहते हैं। इसके विपरीत साधक अपने क्षेत्र में निरन्तर साधनारत रहता है, उसी के अनुरूप कर्म करता है, तो उसका परिणाम भी लौकिक नहीं होता। उसकी उपलब्धि धन-सम्पत्ति की नहीं, अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर उनसे कुछ छीनने की नहीं – उसकी उपलब्धि तो उसका आत्मिक विकास है। आत्मिक विकास के परिणाम-स्वरूप, उसका चरित्र सात्त्विक होगा, उसके मन में दया, करुणा, प्रेम आदि भाव होंगे। अत: उसके अनुभव निश्चित रूप से अलौकिक होंगे। इसीलिए 'तोड़ो, कारा तोड़ो' में स्वामीजी तथा कुछ अन्य चरित्र अलौकिक हैं। इस अर्थ में देखें तो राम, कृष्ण तथा युधिष्ठिर के चरित्र भी अलौकिक हैं।

मैं स्वीकार करता हूँ कि **रामकथा** लिखते समय मुझे अध्यात्म की समझ रत्ती भर भी नहीं थी। अत: रामकथा में अध्यात्म नहीं आ पाया। राम की अलौकिकता को न समझने के कारण, केवल सांसारिक, लौकिक धरातल पर, एक अत्यन्त क्षमतापूर्ण और अत्यन्त सात्त्विक महापुरुष के रूप में मैंने उनका चित्रण करने का प्रयत्न किया है।

'तोड़ो, कारा तोड़ो' में यद्यपि धर्म और जीवन की अनेक जटिल गुत्थियों को अत्यन्त सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है; किन्तु यह प्रश्न उठता है कि क्या यह कृति मनोरंजन के उद्देश्य से भी पढ़ी जा सकेगी? ... मैं मानता हूँ कि विविध प्रकार के लोगों का मनोरंजन भी विविध प्रकार से होता है। एक व्यक्ति का मनोरंजन हॉकी खेलने से होता है। दूसरे का दूरदर्शन पर दिन भर क्रिकेट का मैच देखने से होता है। जो व्यक्ति शुद्ध मनोरंजन के लिए उपन्यास पढ़ना चाहे, निश्चित रूप से 'तोड़ो, कारा तोड़ो' उनके लिए नहीं है। किन्तु साहित्य और कलाएँ जिनका मनोरंजन हो सकती हैं, अच्छा और गम्भीर साहित्य पढ़कर जो जीवन को समझने का निश्चित प्रयास करते हैं, मुझे नहीं लगता कि ऐसे लोगों को इसे पढ़ने मे कोई कठिनाई है। लगभग साठ-पैंसठ वर्षों के एक गम्भीर सज्जन, जो भाषा और साहित्य सम्बन्धी एक अच्छे पद पर नौकरी कर, अवकाश प्राप्त कर चुके थे, ने 'तोड़ो, कारा तोड़ो' पढ़ा, तो बड़े चमत्कृत होकर मुझसे कहा, "कोहली साहब! आप स्वामीजी के साथ-साथ ही चल रहे थे क्या? सब कुछ इतना स्पष्ट, सजीव और प्रत्यक्ष होकर आया है।" इसी प्रकार कुछ अन्य पाठकों ने भी पुस्तक पढ़कर मुझसे सम्पर्क किया। उन्होंने स्वामीजी की जीवनी पढ़ी या नहीं, स्वामीजी के भाषण तथा निबन्ध पढ़े या नहीं, किन्तु यह उपन्यास उन्हें इतना सरस लगा कि उनकी

रुचि स्वामी विवेकानन्द के जीवन, व्रत (मिशन) तथा साहित्य की ओर उन्मुख हो गयी। अध्यात्म के क्षेत्र के कुछ ऐसे अन्य सम्प्रदाय, जिनके अपने गुरु हैं, चाहते हैं कि उनके गुरु के विषय में भी, ऐसा ही सरस और रोचक उपन्यास लिखा जाए। इन सारी प्रतिक्रियाओं को देखकर मुझे लगता है कि यह उपन्यास हिन्दी के पाठक को प्रीतिकर लगा है। मेरा प्रकाशक निरन्तर कह रहा है कि अगला खण्ड भी शीघ्रातिशीघ्र तैयार कर दीजिए। इससे यह तो नहीं लगता कि यह उपन्यास पाठक के लिए अपठनीय अथवा अरुचिकर सिद्ध हो रहा है। मैं यह नहीं कहूँगा कि जो पाठक इसे पढ़ रहे हैं, उनके लिए यह मनोरंजन का साधन है (मनोरंजन शब्द कुछ हल्का पड़ता है); किन्तु यह अवश्य कहूँगा कि उन्हें यह प्रीतिकर है, इससे वे कुछ पाते हैं, उनकी तृप्ति हो रही है। अन्यथा कोई अपना समय क्यों नष्ट करेगा !

अध्यात्म, जीवन का ही नहीं, कला का भी सत्य है। इसी कारण समय-समय पर यह प्रश्न भी उठता रहा है कि आस्था-वान, भावनायुक्त पाठक कृति के भावों के साथ बहकर संन्यास धारण करने का संकल्प तो नहीं कर लेगा? ... ऐसा भावुक व्यक्ति जो अपने सामने आनेवाली किसी भी चीज का अनुकरण करने लगे, यदि फिल्म देखे, तो उसके नायक-नायिका का अनुकरण करने लगे; क्रिकेट का मैच देखे, तो खिलाड़ियों का अनुकरण करने लगे; 'देवदास' उपन्यास पढ़े, तो मदिरा सेवन करने लगे और वेश्यागामी हो जाए; जिस उपन्यास का नायक संन्यासी है, उसे पढ़े तो संन्यास ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त हो जाए; ऐसे भावुक व्यक्ति से तो वैसे ही सावधान रहना चाहिये। उसके जीवन में 'तोड़ो, कारा तोड़ो' के बिना भी अनेक संकट हो सकते हैं। किन्तु यदि कोई इतना ही आस्थावान व्यक्ति है, जिसके मन में, एक प्रकार का प्रच्छन्न वैराग्य है, या जिसके मन में अत्यन्त सात्त्विक जीवन जीने की इच्छा है; और इस उपन्यास को पढ़कर उसका वैराग्य जाग उठता है, तो उसकी प्रतिक्रिया वही है, जो जीवनी, उपन्यास या इतिहास पढ़कर किसी भी महापुरुष के सम्बन्ध में हो सकती है। महाराणा प्रताप के विषय में पढ़कर, कोई अपने देश के लिए अपने प्राण देने को तत्पर हो जाए, तो महाराणा के विषय में लिखने वाले को पुरस्कृत किया जाना चाहिए। **आदर्श जगाना ही तो लेखन का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होता है। भावुकता और संवेदन-शीलता में बहुत अन्तर है।** भावुक बनकर भावना में बहकर अपने जीवन से खिलवाड़ करना अलग बात है। त्याग के तो हम सब प्रशंसक हैं, किन्तु जब व्यक्ति वस्तुत: जीवन के सुख-भोग त्यगता है, तो उसके निकट के लोग, उसके अपने सम्बन्धी, अपने परिवार के लोग, उससे प्रसन्न नहीं होते। वे उसे उसी मार्ग पर चलाना चाहते हैं, जिस पर वे स्वयं चल रहे हैं। किन्तु **हम पूजा उन्हीं की करते हैं, जिन्होंने अपना बलिदान किया है, त्याग किया है; और समाज के हित को अपने निजी सुख से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।**

बचपन में सुना था कि कई लोग नहीं चाहते कि उनके बच्चे श्रीमद्-भगवद्-गीता पढ़ें। वे आशंकित थे कि उनके बच्चे गीता पढ़कर संन्यासी बन सकते हैं। बच्चे संन्यासी हो गए, तो वृद्धावस्था में उनकी देखभाल कौन करेगा?

(शेष अगले पृष्ठ पर)

अर्जुन का विषाद

देवेन्द्र नारायण शुक्ल, अमेरिका

अर्जुन का रथ पार्थ-सारथी युद्धभूमि में लाये।
कौरव-सेना देख सामने तब अर्जुन घबराये।।
अपने ही स्वजनों पर कैसे आज चलाऊँ बाण।
भाई को मैं शत्रु मानकर कैसे ले लूँ प्राण।।
यद्यपि दुर्योधन-दु:शासन दुष्ट और अन्यायी।
कुछ भी कहिये लेकिन कौरव हैं तो अपने भाई।।
अपने पूज्य पितामह पर मैं कैसे शस्त्र उठाऊँगा।
उनकी हत्या करके तो मैं कुलद्रोही कहलाऊँगा।।
मुझे सामना करना होगा गुरुवर द्रोणाचार्य का।
गुरुभाई अश्वत्थामा और कुलगुरु कृपाचार्य का।।
कुरुक्षेत्र में बह जायेगी उष्ण रक्त की धारा।
भाई दुश्मन भाई का, कैसा दुर्भाग्य हमारा।।
गदा-खड्ग-तलवार चलेगी वर्षा होगी तीरों की।
युद्धभूमि पर लाशें होंगी कोटि-कोटि रणवीरों की।।
इसी भूमि पर विचरेंगे दल स्वान-श्रृगालों-गिद्धों के।
यहाँ-वहाँ शव पड़े मिलेंगे बाल-युवाओं-वृद्धों के।।
निर्दोषों का युद्धभूमि में नाहक क्यों बलिदान्।
सिवा युद्ध के क्या अब कोई दूजा नहीं निदान।।
तुच्छ भूमि को लेकर हम सब, हैं जो इतने क्रुद्ध।
मुझे न लेना राजपाठ है और न करना युद्ध।।
और अगर इस महायुद्ध में विजयी हो जायेंगे।
बन्धु-बान्धवों को खोकर, तो भी हम क्या पायेंगे।।
माताओं की गोदें सूनी, होंगी सूनी माँगें।
अर्जुन की आँखों में आँसू, युद्धभूमि से भागे।।
रक्तपात मैं नहीं करूँगा, नहीं चाहिये राज्य।
वन में जाकर रह लूँगा मैं, ले लूँगा वैराग्य।।
प्रभु ने अर्जुन को तब अपना विश्वरूप दिखलाया।
अर्जुन ने अपने संशय का समाधान तब पाया।।
-भरतवंशियों का बहता है रक्त तुम्हारे रग-रग में।
जिनकी गौरवगाथा का इतिहास अमर है इस जग में।।
कर्तव्यों से विमुख हुए तुम, कायरता यह पार्थ।
क्षत्रिय हो, गाण्डीव सँभालो, लड़कर बनो कृतार्थ।।

पुत्र तो भगवा धारण कर चल देगा और वे असहाय रह जाएँगे। यदि ऐसा होता है, तो क्या उसके लिए गीता दोषी है? यह कहा जाए कि वह कल्याणकारी कृति नहीं है? **भगवद्गीता, इस देश का गौरव है। यह संसार के उच्चतम दर्शन को प्रस्तुत करती है। साहित्य में, अध्यात्म में, चिन्तन में, दर्शन में, इसका सर्वोत्कृष्ट स्थान है।** हाँ ! हमें सावधान अवश्य रहना चाहिये कि किसी भी चीज का दूषित प्रयोग न हो। स्वामी विवेकानन्द पर लिखकर मैं स्वयं संन्यासी नहीं हो पाया। संन्यास का अर्थ है – सब कुछ ईश्वर को समर्पित करना। संन्यास का अर्थ भीख माँगना नहीं है। इतना ईश्वर-निर्भर होना है कि अपनी चिन्ता स्वयं न कर, ईश्वर पर डाल दें। इस समय जो खाया, सो खाया। अगला भोजन कहाँ से आएगा, इसकी चिन्ता ईश्वर पर छोड़ दें। ईश्वर की इच्छा मानकर चलना कि देगा तो खा लेंगे, नहीं देगा तो नहीं खाएँगे। भूखे रह जाएँगे; भूख के कारण मृत्यु आई, तो स्वयं को उसे सौंप देंगे। इस सीमा तक ईश्वर पर निर्भर होकर अपना सारा कर्म, सारा जीवन उसे समर्पित कर देना। यह तो बहुत ऊँचा आदर्श है। मैं स्वयं ही नहीं कर सका। किन्तु कर सकूँ, तो उसको श्रेयस्कर ही मानूँगा। यह नहीं मानूँगा कि मुझसे कुछ गलत हो गया। कोई सोच-समझकर, प्रौढ़ मन से संन्यास ग्रहण करने का निश्चय करता है, तो उसमें चिन्ता करने या आशंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उपन्यास के दूसरे खण्ड को मैंने स्वामी विवेकानन्द द्वारा हिमालय क्षेत्र की ओर प्रस्थान तक लाकर रोक दिया था; किन्तु उपन्यास सम्पूर्ण नहीं हुआ था। मेरे मन में स्वामीजी के समग्र जीवन को लेकर लिखने की ही इच्छा थी। किन्हीं कारणों से – कुछ कारण तो मेरे अपने जीवन के लेखन सम्बन्धी थे – उपन्यास ठहर गया। उसमें कदाचित् अदृष्ट का संकेत भी था। 'महासमर' के दो या तीन खण्ड लिखकर मैं रुक गया था। और बीच में 'तोडो, कारा तोड़ो' लिखना आरम्भ किया। यह वैसा ही था, जैसे गाड़ी कहीं जा रही हो, और उसको इसलिए रोक दिया जाए कि दूसरी गाड़ी के साथ उसके डिब्बे जोड़े जाएँगे। उसी प्रकार 'महासमर' को रोककर 'तोड़ो, कारा तोड़ो' लिखवाया गया। इस प्रक्रिया के कारण 'महासमर' के दृष्टिकोण में भी बहुत अन्तर आया। मेरी समझ कुछ विकसित हुई।

१९७९ ई. तक मैंने 'अभ्युदय' (रामकथा) पूरा किया था, उसके पश्चात् 'महासमर' के आरम्भिक तीन खण्डों के पश्चात् 'तोड़ो, कारा तोड़ो' लिखा। 'अभ्युदय' में मेरा तर्कशील विचारक मन ही दिखाई पड़ता है। **'तोड़ो, कारा तोड़ो' लिखते समय मुझमें अध्यात्म, ईश्वर और तत्त्व-चिन्तन की थोड़ी समझ विकसित हुई।** वस्तुत: यह उपन्यास लिखते समय, मेरे मन-चिन्तन तथा व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के परिवर्तन आए, जिसका स्पष्ट प्रभाव 'तोड़ो, कारा तोड़ो' के पश्चात् लिखे गए 'महासमर' के अन्य खण्डों 'धर्म', 'अन्तराल', 'प्रच्छन्न', 'प्रत्यक्ष', तथा 'निर्बन्ध' पर भी देखा जा सकता है। यह परिवर्तन अध्यात्म-सम्बन्धी ही है। मैं यह नहीं कहता कि मुझे कुछ दिव्य अनुभव हुए, या इन्द्रियातीत ज्ञान प्राप्त हुआ है। ऐसा कुछ नहीं है; किन्तु जो मैंने पढ़ा, सोचा और समझा है तथा मेरे चारों ओर जो कुछ घटित हुआ है, उसके कारण जीवन की प्रौढ़ता के साथ बहुत सारे नए निष्कर्ष मेरे सामने आए हैं। ... कुछ लोग यह मानते हैं कि व्यक्ति जब बूढ़ा और असहाय हो जाता है, असमर्थ हो जाता है, तो वह ईश्वर को स्मरण करने लगता है ... 'हारे को हरि नाम है।' पर मैंने यह पाया कि जब तक बालक बढ़ रहा है, तब तक उसने अपने आप को समर्थ होते देखा है। शरीर बढ़ रहा है, मन विकसित हो रहा है, उसका ज्ञान बढ़ रहा है। वह नौकरी करता है, व्यवसाय करता है, धन कमाता है, समर्थ होता है; इसलिए उस समय संसार का केवल इन्द्रधनुषी रूप ही देखता है। यह वैसा ही है, जैसे एक पौधे का बीज बोया जाय, तो वह अंकुरित होता है, विकसित, पल्लवित, पुष्पित होता है। उसमें फूल आते हैं। तब तक उसका मन कुछ और ही होता है, परन्तु जब वह पौधा मुरझाने लगता है, तो चाहे वसन्त आए, चाहे उसको कितना ही खाद-पानी दिया जाय, वह अपना जीवन-क्रम प्रकृति के नियमों के अधीन ही पूरा करेगा। **मनुष्य जब जीवन के इस रूप को देखता है कि जिस शरीर को उसने अपना समझ रखा था, उसके दाँत हिलने लगे हैं, आँखों से भी कम दिखाई देता है, घुटने भी दर्द करने लगे हैं, कमर में भी कष्ट होने लगा है; तो उसके सामने ये निष्कर्ष आते हैं कि वह केवल यह शरीर ही नहीं है। उसके पीछे कुछ और है।** शरीर तो नश्वर है, पर कुछ अनश्वर भी है। और जो अनश्वर है, वही इस संसार से परे, पीछे, डोर खींचनेवाली सत्ता है। ये सब बातें समझ में आने लगती हैं, तो मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता है। मैं इसको किसी भी प्रकार से दुर्बलता, कोमलता, कायरता या असमर्थता नहीं मानता। मैं इसे परिपक्वता मानता हूँ। इसीलिए कहा गया है कि उपनिषद् आदि यदि शैशवावस्था में पढ़े भी जाएँ, तो समझ में नहीं आते; क्योंकि जीवन का वह अनुभव तो हमने पाया ही नहीं, वह दृष्टिकोण तो हमारे पास है ही नहीं। उस समय व्यक्ति उसको पढ़ सकता है, कण्ठस्थ कर सकता है, किन्तु उसकी समझ, उसकी अनुभूति वह बाद में प्रौढ़ मन से ही कर सकता है। **मुझमें वही अन्तर आया है। मैं स्वयं भीतर से बहुत बदला हूँ। यह परिवर्तन विकास की दिशा है, आत्मोपलब्धि की दिशा है। साहित्य पढ़ कर या लिखकर यदि यह परिवर्तन आया है, तो उससे बड़ा दूसरा कोई पुरस्कार नहीं हो सकता।** ❑ (७.११.२००४)

माँ की करुणा

धीरेन्द्र कुमार गुहठाकुरता

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

२ जनवरी, १९१० ई.। बेलूड़ मठ में पूजनीय बाबूराम महाराज ने स्वामी धीरानन्द जी से कहा – "कृष्णलाल, धीरेन को माँ के पास ले जाकर बलि देकर ले आओ।" मेरे पिता नहीं थे, माँ भी काफी पहले ही गुजर चुकी थीं, मन उदास था। यही चिन्ता लगी रहती थी कि कहाँ जाऊँ, कैसे अपनी खोई हुई माँ को पाऊँ? मातृहीन किशोर की मर्मवेदना भला कौन समझे!

'बलि' ही तो था। हम लोग पूर्वी बंगाल के हैं, बारीसाल में घर है। अत: बलि से हम लोगों का घनिष्ठ परिचय है। वहाँ तो सरस्वती-पूजा में भी बकरे की बलि देते हैं।

'उद्‌बोधन'-भवन की सीढ़ियाँ चढ़ कर मैं ऊपर पहुँचा। पूजनीय शरत् महाराज बैठे डेस्क पर लिख रहे थे। मेरे सीढ़ी के पास पहुँचते ही वे गुहार लगाकर बोले – "कौन जा रहा है? माँ की तबीयत ठीक नहीं, जाना मत।" परन्तु मैं उनके आदेश को अनसुना करके सीढ़ियाँ चढ़ रहा हूँ, यह देखकर वे उठ खड़े हुए और आकर मेरे सामने खड़े होकर बोले – "माँ की तबीयत ठीक नहीं, ऊपर मत जाओ।" लेकिन उस समय मेरे मन में ऐसी जिद थी कि मैं उन्हें धक्का मारकर माँ के पास चला गया। उद्‌बोधन के पूजाघर में माँ पूजा करने बैठी थीं। मेरी ओर देखते ही समझ गयीं कि मैं दीक्षा-प्रार्थी हूँ। थोड़ा हँसकर वे बोलीं – "कल आना।"

अगले दिन, ३ जनवरी को मैं स्नान करके जा पहुँचा। माँ ने अपनी बाँयी तरफ के आसन पर बैठने को कहा। इस अंचल (बंगाल) की महिलाएँ जिस प्रकार ठुड्डी का स्पर्श करके वधू-वरण आदि करती हैं, उसी प्रकार माँ ने मेरी ठुड्डी को छूकर अपना हाथ चूम लिया और मेरे ऊपर गंगा-जल छिड़क दिया। मैं मंत्रमुग्ध के समान माँ की पूजा देखने लगा, सामने नैवेद्य की थाल तथा फल-फूल रखे हुए थे।

कुछ देर ध्यान करने के बाद माँ मेरी ओर प्रसन्न दृष्टि से देखते हुए बोलीं – "तुम लोग शाक्त हो या वैष्णव?" मैंने कहा – "मेरी छह वर्ष की आयु में माँ की मृत्यु हुई और चौदह वर्ष की आयु में पिता की, इसलिए यह सब तो मैं नहीं जानता, माँ! तो भी माँ की मृत्यु के समय पिताजी ने उनके सिरहाने काली की मूर्ति रख दी थी।" माँ समझ गयीं। मेरी ठुड्डी पर हाथ रखकर उन्होंने कान में महामंत्र दिया। मेरे पाँवों से सिर तक एक विद्युत् तरंग-सा कुछ दौड़ गया। वह आनन्दमय अनुभूति केवल अनुभव की वस्तु है, वर्णन की नहीं। इसके बाद माँ ने हाथ पर गिनती करते हुए जप करना सिखाया। मुझसे गलती हो रही थी, पर मैं माँ से कुछ न कहकर केवल उनकी ओर देखता रहा। उन्होंने फिर स्वयं करके दिखाया। मुझसे फिर गलती हुई और करुणामयी-माँ ने फिर स्वयं करके मुझे दिखाया।

दीक्षा के बाद उन्होंने गुरुदक्षिणा के लिए हाथ फैलाया। मेरी जेब में कुछ नहीं है, यह जानकर माँ ने नैवेद्य की थाल से एक फल उठाकर मेरे हाथों में दिया और बोलीं – "कहो, मैं अपने इहलोक और परलोक के सारे पाप-पुण्य तुम्हें देता हूँ।" मैंने कहा – "माँ, बेटे माँ को अच्छी चीजें देते हैं। मैं तुम्हें पाप-ताप नहीं दे सकता।" माँ हँसते हुए बोलीं – "तो रहने दो बेटा, तुम्हें कुछ नहीं करना होगा। केवल सुबह शाम जप करना। जपात् सिद्धि: जपात् सिद्धि"।" मैंने माँ से कहा – "मैं हाथ से गिनकर जप नहीं कर पा रहा हूँ।" माँ ने कृष्णलाल महाराज को पुकारकर एक रुद्राक्ष की माला लाने को कहा। वह माला आज भी मेरी सम्पदा बनी हुई है।

१९६० ई. में मैंने नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। जीवन में माँ की खूब कृपा मिली। उनकी कृपा से जीवन की बहुत-सी शून्यता भर गयी है, परन्तु उन्हें गुरु-दक्षिणा न दे पाने की वेदना अभी भी गयी नहीं है। मेरे जीवन का लक्ष्य है कि मैं अपने जीवन-रूपी पात्र में भरकर माँ को गुरु-दक्षिणा प्रदान करूँ। पर लक्ष्य का अभी भी स्पर्श नहीं कर सका हूँ। नहीं जानता कि इस जीवन में कर भी पाऊँगा या नहीं।

कामारपुकुर में युगियों के शिव-मन्दिर के सामने खड़े होकर गैरीसन साहब ने मुझसे पूछा था – "तुमने माँ को देखा है। उनका कुछ चमत्कार भी देखा है। माँ के बारे में किसी अलौकिक घटना के बारे में बताओ।"

उत्तर में मैंने उनसे कहा था – "तुम स्वयं ही तो उनका एक चमत्कार हो – माँ की करुणा के एक महान् निदर्शन हो। हम लोग तो कलकत्ते से बहुत कम समय तथा थोड़े-से पैसे खर्च करके यहाँ आये हैं और तुम तो कैलिफोर्निया से कामारपुकुर आ पहुँचे हो। यह अपने आप में माँ के चमत्कार का एक बड़ा दृष्टान्त नहीं है क्या?"

पूजनीय शरत् महाराज माँ के द्वारपाल थे। वे कहा करते थे – "तोर रंग देखे रंगमयी अवाक् हयेछि !" (हे रंगमयी ! मैं तेरा खेल देखकर अवाक् हो गया हूँ।) हम लोग भी उनकी लीला को देखकर अवाक् हैं।

रामकृष्ण मिशन के एक विदेशी संन्यासी से मैंने पूछा था – "महाराज ! आप जयरामबाटी क्यों आये हैं?" वे हँसते हुए बोले – "अपनी बैटरी चार्ज करने आया हूँ।"

माँ ने स्वयं भी कहा है – जयरामबाटी 'शिवपुरी' है, यहाँ तीन रात निवास करने से देह शुद्ध हो जाती है।" मुझसे यदि कोई पूछे – "अमरनाथ-क्षीरभवानी जाओगे?" तो मैं कहता हूँ – "सब तीर्थों में प्रमुख तीर्थ है जयरामबाटी। यदि हो सके, तो उसका दर्शन करो, धन्य हो जाओगे।"

स्वामी विवेकानन्द जी के भाई महिम बाबू (श्री महेन्द्र नाथ दत्त) ने मुझसे कहा था – "सब कहना, पर माँ के बारे में बड़ी सावधानी के साथ कहना। कृपा मिली है, उसी को पकड़े रहो। कहने के प्रयास में उन्हें छोटा कर डालोगे।" इसलिए माँ की बातें कहते बड़ा भय लगता है कि कहीं उन्हें छोटा न कर बैठूँ।

तीन अलौकिक घटनाएँ

श्रीश चन्द्र सान्याल

माँ के मंत्रशिष्य श्रीशचन्द्र घटक मेरे परिचित थे। उनसे मैंने माँ के बारे में तीन अलौकिक घटनाएँ सुनी हैं। बँगला संवत् १३१७ (१९११ ई.) के जेठ के महीने में रमणी मोहन भट्टाचार्य (स्वामी जगदानन्द) श्रीश चन्द्र घटक, प्रफुल्ल वन्द्योपाध्याय और सुरेन्द्र नाथ चक्रवर्ती माँ का दर्शन करने के लिए जयरामबाटी गये। उनमें से एक की दीक्षा पहले ही हो चुकी थी, बाकी तीनों के मन में दीक्षा पाने की इच्छा थी। उनमें से दो के मन में दीक्षा के पूर्व माँ की कुछ अलौकिक शक्ति की अभिव्यक्ति देखने की बड़ी इच्छा थी। ये दोनों एक दिन सुबह माँ की पद-पूजा के लिए कमल के फूल लाने गाँव में निकले। लेकिन उन्हें गाँव में कहीं भी कमल का फूल नहीं मिले। खोज करते-करते वे पास के गाँव में जा पहुँचे। उस गाँव के आखिरी छोर पर उन लोगों ने एक छोटा तालाब देखा। उसमें कुछ कमल खिले हुए थे।

उस समय जयरामबाटी में काला बुखार एवं मलेरिया का भयंकर प्रकोप फैला हुआ था। वे लोग सोच रहे थे कि तालाब में उतरें या नहीं। ठीक तभी एक वृद्ध महिला वहाँ आ पहुँची। वह बोली – "बेटा, कमल के फूल लोगे? मैं निकाल लाती हूँ।" इतना कहकर वृद्धा ने तालाब में उतरकर बहुत-से कमल के फूल तोड़े और लाकर उन्हें दे दिया। वे लोग बड़े खुश हुए। बोले – "हम तुम्हें कुछ पैसे देंगे।"

परन्तु उन लोगों ने देखा कि जिस कपड़े में पैसे थे, वे भूल से उन्हें पहनकर नहीं आये हैं। वृद्धा ने सब सुनकर कहा – "तो क्या हुआ, बेटा? शाम को यहाँ आकर दे जाना।" मगर शाम को वहाँ जाने पर वृद्धा का कोई नामो-निशान नहीं मिला। यहाँ तक कि वह तालाब भी देखने को नहीं मिला। लोगों से पूछने पर पता चला कि वहाँ ऐसी कोई वृद्धा नहीं रहती और न वहाँ पर वैसा कोई तालाब ही था। मुझे लगता है कि उन लोगों के मन में जो माँ की अलौकिक शक्ति की अभिव्यक्ति देखने की इच्छा थी, उसको पूर्ण करने हेतु ही 'अघटन-घटन-पटीयसी' माँ ने ऐसी घटना घटायी।

एक अन्य बार श्रीश चन्द्र घटक, सुरेन्द्र नाथ सरकार तथा इन्दु भूषण सेनगुप्त बड़े दिन की छुट्टियों में शिलाँग से माँ का दर्शन करने जयरामबाटी आये। रास्ते में आते-आते उनके मन में इच्छा जगी कि जयरामबाटी पहुँचकर माँ के हाथ से पीठा खायेंगे। उन लोगों ने आपस में इस बात पर चर्चा की, पर अन्य किसी को नहीं बताया। जयरामबाटी पहुँचने के बाद जब वे लोग प्रसाद पाने बैठे, तो यह देखकर उन लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि उस दिन प्रसाद में पीठा भी था। और केवल यही नहीं, जब परोसना आरम्भ हुआ, तो उनके पत्तल में पहले ही पीठा पड़ा। इस पर भक्तों का मन विस्मय और आनन्द से अभिभूत हो उठा और उनके नेत्रों में आँसू आ गये।

ठाकुर-माँ-स्वामीजी के आदर्शों में अनुराग रखनेवाले शिलांग के भक्तों ने मिलकर एक संगठन बनाया था। उसके तत्त्वावधान में नियमित रूप से भजन तथा 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ का पाठ आदि हुआ करते थे। एक बार उन लोगों ने अविराम माँ के भजन गाना आरम्भ किया। उस समय माँ 'उद्‌बोधन' के अपने घर में थीं। उन लोगों ने माँ को इस विषय में कोई सूचना नहीं दी थी। दो-तीन दिनों तक खूब माँ के भजन होते रहे; इधर कलकत्ते में 'उद्‌बोधन' में माँ सहसा बेचैन हो उठीं। एक सेवक को बुलाकर उन्होंने कहा – "अब और नहीं सहा जाता। शिलांग के भक्तों के भजन-कीर्तन से कान झनझना उठे हैं। उनसे बन्द करने को कहो। टेलीग्राम कर दो।"

❖ (क्रमशः) ❖

देखा प्रकृति का भव्य रूप

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

मुण्डक उपनिषद् में एक श्लोक उद्‌धृत है –

ब्रह्मवेदम् अमृतं पुरस्ताद् ब्रह्म
पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणश्च उत्तरेण ।
अधश्च ऊर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्म
एव इदं विश्वम् इदं वरिष्ठम् ।। २/२/११

– सम्मुख दिखाई पड़ने वाले सभी पदार्थ आनन्दस्वरूप, अमृतरूप ही हैं। ब्रह्म ही आगे-पीछे, नीचे-ऊपर, दक्षिण-उत्तर सर्वत्र व्याप्त है। यह विशाल ब्रह्माण्ड ब्रह्म ही है।

भगवान श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं –

मत्तः परतरं नास्ति किंचिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।

– 'यह सम्पूर्ण संसार सूत में गुम्फित मणियों के सदृश मुझमें ही ग्रथित है।' समस्त चराचर जगत् ब्रह्म से निःसृत है। सम्पूर्ण प्रकृति ब्रह्म या परमात्मा से उद्‌भूत एवं ब्रह्ममय है। इसलिये उपनिषद् के ऋषियों ने घोषणा की – **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** – यह सब कुछ ब्रह्म ही है।

गीता में प्रकृति के आठ प्रकार बताये गये हैं –

भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। ७/४

– भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि भूमि, जल, अनल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ये मेरी आठ प्रकृतियाँ हैं।

उत्कृष्ट-निकृष्ट, नित्य-अनित्य, शुभ-अशुभ, जड़-चेतन सब कुछ के मूल उद्‌गम परमात्मा ही हैं। भगवान स्वयं कहते हैं – **अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** – अर्थात् मैं सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ (७/६)।

प्रकृति दो प्रकार की है – अन्तर्प्रकृति और बाह्यप्रकृति। यहाँ मेरा विवेच्य विषय बाह्यप्रकृति है। यद्यपि वेदान्त की दृष्टि से दोनों ही अनित्य हैं।

बाह्यप्रकृति जड़वत् और स्थूल है। जैसे पहाड़, झरने, नदी, जंगल आदि। किन्तु प्रकृति में वही नित्य तत्त्व परमात्मा विद्यमान है। इसीलिये जड़ और स्थूल प्रकृति भी दर्शकों के मन के आह्लादित करती है। उनके शोक-तापित चित्त में शान्ति एवं आनन्द का विकीरण करती है। वह दर्शकों के मन-स्तर को ऊँचा उठा देती है। जब कोई व्यक्ति नदी, झरना, पर्वत, वन और समुद्र को देखता है, तब उसका मन उसके सामान्य स्तर से विशेष उच्चतर अवस्था में पहुँच जाता है। उसका मन-मयूर आनन्द से नृत्य करने लगता है। आँखें छककर प्रकृति के इस सम्मोहनकारी दृश्य का पान करने लगती हैं। चित्त में विविध प्रकार के भाव उमड़ने लगते हैं। हृदय का संगीत प्रारम्भ हो जाता है।

ऐसी चित्ताकर्षक प्रकृति का दर्शन मैंने किया। उसे देखकर मैं भाव-विभोर हो गया। वह दृश्य अभी भी मेरे हृदय-दर्पण में प्रतिभासित हो रहा है। किसी मानव-मन में प्रकृतितः यह जिज्ञासा उठेगी कि वह कौन-सी प्राकृतिक सुषमा है, जिस प्राकृतिक सौन्दर्य पर एक सन्त का चित्त भी उद्वेलित हो गया? प्रत्युत्तर आपके समक्ष विद्यमान है। वह जन-मन विमुग्धकारी स्थल है – छत्तीसगढ़ राज्य में अवस्थित बस्तर जिले का चित्रकोट-जलप्रपात।

चित्रकोट जल-प्रपात भारत का सबसे बड़ा जल-प्रपात है। यह ९६ फीट नीचे गिर रहा है। इतने विशाल जल-राशि के एक साथ गिरने से एक अद्‌भुत दृश्य उपस्थित होता है। उससे विलक्षण ध्वनि उत्पन्न होती है, जो भयावह भी है और आकर्षक भी। थोड़ी-सी अश्रद्धा, उद्धतता, मर्यादा-लंघन एवं असावधानी से वह कालरूप प्राणघाती बन सकता है। किन्तु यदि श्रद्धा-प्रेम और सावधानीपूर्वक मर्यादा-बोध हो, तो वह शान्ति एवं आनन्दप्रद है।

बस्तर के कुछ प्राकृतिक स्थलों एवं देव-स्थानों के दर्शनार्थ सन्तों की एक मण्डली रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर से २ अगस्त, २००३ को प्रस्थान की। उस मण्डली में थे – बेलूड़ मठ के स्वामी शुद्धरूपानन्द, रायपुर आश्रम के स्वामी विदेहात्मानन्द, स्वामी शुद्धात्मानन्द, स्वामी देवप्रभानन्द, स्वामी निर्विकारानन्द, स्वामी स्थिरानन्द, स्वामी त्र्यम्बकानन्द, स्वामी प्रपत्त्यानन्द और रामकृष्ण मिशन नारायणपुर से स्वामी रामतत्त्वानन्द, स्वामी करुणानन्द और ब्रह्मचारी वेदान्त चैतन्य। २ अगस्त को नारायणपुर के आश्रम में ही विश्राम हुआ। ३ अगस्त को उसी आश्रम में छात्रों की कुश्ती एवं अन्यान्य निकटस्थ शिक्षा-संस्थानों, पहाड़ी-देवी मन्दिर तथा रामघाट जल-प्रपात का दर्शन किया गया। ४ अगस्त को हम लोग तीरथगढ़ और चित्रकोट जल-प्रपात के दर्शन के लिये प्रस्थान किये।

तीरथगढ़ जल-प्रपात का सौन्दर्य सहज ही मन को मुग्ध कर लेता है। यह ११० फीट नीचे गिर रहा है। उस जल-प्रपात की ध्वनि भयावह नहीं है, जितनी कि चित्रकोट की। तीरथगढ़ का जल स्वच्छ था। यह जल-प्रपात ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे कोई समृद्ध किसान रजत-राशि को प्राकृतिक वायु में ओसा कर स्वच्छ बना रहा हो। उससे उड़नेवाली

फुहारें रजत-राशि के सूक्ष्म कणवत् प्रतीत हो रही थीं। जब जल पत्थरों पर से होकर नीचे गिरता है, तब लगता है कि दूध की धारा बह रही है। मानो नदी देवी अध:स्थ शिव का अजस्र दुग्ध-धारा से अभिषेक कर रही हों। जल की धारा नीचे टकराकर पुन: ऊपर उठती है। जल के फुहारों से वह पूरा क्षेत्र भरा रहता है, जो दर्शकों के शरीर को शीतल और मन को शान्त करता है। प्रकृति ने अपनी मोहिनी-लीला से हमें विमुग्ध कर दिया। संन्यासी की हृदयस्थ काव्य-गंगा भी मृदु-स्वरों में प्रवाहित होने लगी –

आकर्षण प्रकृति का प्रेम प्रबल।
था तीरथगढ़ जल-प्रपात स्थल।।
प्रस्तर सोपान पर दुग्ध-धवल।
इन्द्रावती होकर परम विकल।।
मिलने को अधः वह प्रकृति तल।
उछलती, धावति द्रुत भूतल।।
रजत सम कान्ति शुभ्र विमल।
करती ताण्डव नर्तन सकुशल।।
शीतल सुन्दर नदी-मुख-उत्पल।
तरंग श्वेत वेणी-कुन्तल।।
यह नदी नहीं करती कल-कल।
यह करती है उतुंग करतल।।
यति देख रहा धारा पल-पल।
सौन्दर्य देख अति हो विह्वल।।
कह उठा देवि ! मम मन चंचल।
है कोटि नमन् तव तरण कमल।।

तीरथगढ़ में ही उन्मुक्त आकाश में गंगा-तट पर भोजनोपरान्त चित्रकोट-जल-प्रपात के दर्शनार्थ उसी दिन प्रस्थान हुआ।

दूर से ही चित्रकोट-जल-प्रपात की ध्वनि सुनाई पड़ी। समीप जाने के बाद जो अद्भुत दृश्य नेत्रगोचर हुआ, वह दर्शन के बिना अकल्पनीय है। इतना चौड़ा और प्रबल वेग के साथ ९६ फुट नीचे गिरनेवाले विशाल जल का दृश्य भयंकर था। लेकिन जैसे काली का रूप दूर से भयप्रद, किन्तु पास जाकर मातृबोध होने से सुखप्रद, आनन्दप्रद हो जाता है। उसी प्रकार हम प्रकृति की सन्तान हैं। प्रकृति सदैव हमारा पालन-पोषण कर रही है। अपने वात्सल्य-अंक से हमें नव-जीवन प्रदान कर रही है। इस मातृत्व बोध, एवं अपनत्व ने उससे सहज ही तादात्म्य स्थापित कर दिया। भयंकर प्रतीत होने वाली प्रकृति अब मधुर एवं मनभावनी हो गयी। भगवान शंकर का विकराल ताण्डव अभय की मुद्रा में परिवर्तित हो गया। तुमुल डमरू-निनाद वीणा की मधुर झंकृतिवत् प्रतिभात होने लगा।

वर्षा का मौसम है। इन्द्रावती नदी जल से पूर्ण है। नदी का जल मटमैला है, जिसका फेन फीका-रक्ताभ दिखता है। काले पत्थरों से होकर वह पानी गुजर रहा है। जब विपुल जल-राशि फेनिल होकर ९६ फुट नीचे गिर रही है, तो लगता है कि तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण की वृत्तियाँ एक साथ परमात्मा में विलीन होकर उसमें से नवीन रूप धारण कर स्वच्छ स्निग्ध अमृतमय फुहारों के रूप में नि:सृत होकर जगत् के कल्याणार्थ चतुर्दिक विस्तीर्ण हो रही हैं। मानो भगवान शिव ने अपनी सारी जटायें खोल दी हों और सगर-पुत्रों को तारने के लिये भागीरथी प्रबल वेग से उछलती हुई दौड़ रही हो। जल-प्रपात की ध्वनि शिव के मृदंग की ध्वनि है, जो 'हर-हर' निनाद से समस्त पार्श्ववर्ती क्षेत्रों को गुंजायमान कर रखी है। वह जल-प्रपात ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो उसका अध:भाग ब्रह्मरूपी हवन-कुण्ड हो और जलस्थ सामग्रियाँ एवं जल के विभिन्न वर्ण के फेन हव्य-सामग्री हों। जल-प्रपात में से निकलने वाली श्वेत धवल जल की फुहार हवन-कुण्ड से निकलने वाला धुँआ हो। मानो प्रकृति स्वयं हव्य बनकर ब्रह्मरूप हवन-कुण्ड में अपना हवन कर रही हो तथा उस धूम की स्निग्धता से सारा वातावरण शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति कर रहा हो।

सन्तों का मन प्रकृति के इस मनोहारी सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। सभी अपनी-अपनी सुविधानुसार शिला-तल पर बैठकर उस माधुर्य का आस्वादन करने लगे। मैं भाव-विभोर हो गया। मेरा मन प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य में सन्निहित परमात्मा की महान् महिमा का अनुभव करने लगा। क्योंकि परमात्मा के कारण ही प्रकृति इतनी सुन्दर, विमुग्धकारी है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं – **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** – अर्थात् परमात्मा की ज्योति से ही सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है – **एतावानस्य महिमा** – यह संसार उनकी महिमा है। ईशोपनिषद् में – **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्** – इस संसार में जो कुछ भी है, वह ईश्वर से व्याप्त है। अर्थात् ईश्वर से पृथक् कुछ भी नहीं है। इसलिये यह संसार प्राणियों को विमोहित करता है। **पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते** – पूर्ण परमात्मा से ही यह जगत् उद्भूत है, इसलिये ईश्वर का सम्मोहन ही ईश्वर की सन्तानों को आकृष्ट करता है। इसी के कारण प्रकृति इतनी सम्मोहित करती है।

सन्त की यह विशेषता है कि वह प्रकृति का दोहन नहीं करता। वह निचोड़ता नहीं। वह उसे विद्रुप कर अर्थार्जन या प्रदर्शनी की वस्तु नहीं बनाता। वह उसके मूल स्वरूप में कृत्रिमता लाकर पर्यटन-विकास की योजना नहीं बनाता। सन्त तो प्रकृति जैसी है, उसे वैसी ही देखते हुये उसके मूल में सन्निहित उसके जनक परमात्मा को याद करता है। वह परमात्मा की महिमा का बोध करता है। सन्त तो प्रकृतिस्थ परमात्मा से तादात्म्य होकर, उस परमानन्द की, उस ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता है और चैतन्यवान होता है। सन्त प्राकृतिक

सौन्दर्य को देखकर परमात्मा का स्मरण करता है। सन्त के लिये प्रकृति का शुद्ध-सत्त्व रूप परमात्मोद्दीपक है।

प्रकृति त्याग-वैराग्य एवं सेवा की प्रेरणा देती है। वह व्यक्ति को तम-रज से ऊपर उठाकर सत्त्व की ओर उन्मुख करती है। प्रकृति अपने सान्निध्य में आनेवालों को स्फूर्ति, चेतना, शान्ति एवं आनन्द प्रदान करती है।

प्रकृति का सत्स्वरूप निष्कलुष, पावन तथा आत्म-प्रकाशक है। प्रकृति जीवन-विकासक एवं संजीवनीप्रदा है। यह मानव-मन को उद्वेलित करनेवाली विक्षुब्ध तरंगों को अपने में समाहित कर उसे परम शान्ति प्रदान करती है। प्रकृति ब्रह्मप्रसूत एवं ब्रह्मरूपा है। प्रकृति अनित्य होते हुये भी, इसका मूल तत्त्व ब्रह्मोद्भूत तथा नित्य है, जो परमात्मा है। प्रकृति पूर्ण ब्रह्ममय है, ईश्वरमय है एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की मूर्तिमान विग्रह है।

इस प्रकार सन्तों ने प्रकृति के सौन्दर्यमयी मोहिनी लीला का आनन्द लिया। उसके दूसरे दिन माँ दन्तेश्वरी का दर्शन किया गया। इस यात्रा में बचेली के लौह-अयस्क-खदान, सिरपुर में सद्यः खुदाई में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति एवं अन्यान्य स्तम्भ, चम्पारण्य में वल्लभाचार्य जी की जन्मस्थली का भी दर्शन हुआ। मैंने मई २००३ में चारों धाम यमुनोत्री, गंगोत्री, गोमुख, केदारनाथ और बद्रीनाथ जी का भी दर्शन किया, जिसका अपना एक अलग महत्व है, किन्तु तीरथगढ़ और चित्रकोट का जल-प्रपात अनुपम है, जिसकी छाप मेरे मानस-पटल पर अमिट है। उस परमात्मा की महिमा अपार एवं अगम्य है। ऐसे अभिन्नत्व में प्रतिष्ठित प्रकृति और परमात्मा हमारे लिये नमनीय, वन्दनीय हैं। ॐ परमात्मने नमः ॥

मानव-जीवन-यात्रा का लक्ष्य

सरजू साहू

यदि हम अपना जीवन पशुओं की तरह निरुद्देश्यपूर्ण ही बिता दें, तो मानव-शरीर को पाने का लाभ ही क्या है?

हमने पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना सीखा,
हमने मछलियों की तरह समुद्र में तैरना सीखा,
मगर क्या हमने इंसानों की तरह जीना भी सीखा?

आज हम जीवन किस तरह जी रहे हैं, इसे एक छोटे से दृष्टान्त के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है –

एक सज्जन रेल-यात्रा कर रहे थे। टिकट चेकर ने उनसे टिकट माँगा, तो उन्होंने टिकट निकालने के लिए अपनी जेब में हाथ डाला। जब एक जेब में टिकट नहीं मिला, तो उन्होंने दूसरी जेब में हाथ डाला। इस प्रकार उन्होंने सारी जेबें टटोल डालीं, लेकिन उन्हें टिकट नहीं मिला। उन्होंने अपना सूटकेस तथा बिस्तर भी खोल डाला, पर उन्हें अपना टिकट नहीं मिला। उनका इतना कठोर उद्यम देखकर टिकट-चेकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने सोचा कि ये तो भले आदमी लगते हैं। वह बोला – "रहने दीजिए, कहीं दब गया होगा। आप भले आदमी दिखाई देते हैं, आप बिना-टिकट नहीं होंगे।" यह सब सुनकर वह सज्जन थोड़े गुस्से से खींझकर बोले – "ऐसी-तैसी बिना-टिकट की। मैं केवल तुम्हें दिखाने के लिए ही थोड़े टिकट खोज रहा हूँ।" यह सुनकर टिकट-चेकर को हैरत हुई। उसने पूछा – "आप मुझे टिकट दिखाने के लिए नहीं खोज रहे हैं, तो फिर किसलिए खोज रहे हैं?" इस पर वे सज्जन खोई हुयी नजरों से उनकी ओर देखते हुए बोले – "टिकट इसलिए खोज रहा हूँ, ताकि मैं यह जान सकूँ कि मुझे जाना कहाँ है?"

आज हमारी जीवन-यात्रा भी इसी प्रकार चल रही है। हम संसार-रूपी रेल में बैठकर अपनी जीवन-यात्रा तो कर रहे हैं, लेकिन विवेकशीलता की टिकट खो बैठे हैं। जिसके कारण हमें अपनी जीवन-यात्रा की मंजिल का पता नहीं है कि हम कहाँ जा रहे हैं, हमें पहुँचना कहाँ है! बस यूँ ही चले जा रहे हैं। हम जिन्दगी ऐसे जी रहे हैं, मानो जीना हमारी मजबूरी हो। बस जैसे-तैसे जीये जा रहे हैं। न कोई लक्ष्य है, न कोई उद्देश्य है। हम रोजमर्रा के ढर्रे में ढली जिन्दगी जी रहे हैं, मानो टाइम-पास कर रहे हों। वस्तुतः हमें संसार-रूपी रेल में यात्रा करते हुए विवेकशीलता की टिकट ढूँढ़कर जान लेना चाहिए कि हमारी जीवन-यात्रा की मंजिल क्या है? हमें जाना कहाँ है? हमारी जीवन-यात्रा का उद्देश्य केवल आत्म-ज्ञान, अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही है। संसार में जानने की अनेक वस्तुएँ हैं, पर उन सबमें प्रधान 'अपने आपको जानना अर्थात् आत्म-साक्षात्कार' ही सर्वोपरि है। हम आज बाहरी बहुत-सी बातों को जानते हैं। पूरे विश्व के ज्ञान-विज्ञान को जानते या जानने का प्रयत्न करते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि हम स्वयं क्या हैं? आज हमारे सारे दुःख, परेशानियाँ, कठिनाइयाँ इसी कारण हैं कि हम अपने आप को ही नहीं जानते हैं, स्वयं को ही नहीं पहचानते हैं। अपने आप को अर्थात् अपनी आत्मा को जान लेने के बाद इस संसार में और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। सच्ची सुख-शान्ति और आनन्द-प्राप्ति का केवल एक ही राजमार्ग है, और वह है – आत्मज्ञान, आत्म-साक्षात्कार। आत्मज्ञान ही हमारी जीवन-यात्रा की आखिरी मंजिल है। ❑❑❑

अलवर में स्वामी विवेकानन्द (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

शम्भुनाथ जी के मकान पर

वहाँ पर स्वामीजी प्रतिदिन प्रात:काल उठकर स्नान तथा ध्यानादि के पश्चात् लगभग नौ बजे अपने कमरे से बाहर निकलते। वे रोज ही देखते कि दस-पन्द्रह लोग और कभी कभी तो पचीस-तीस लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इनमें शिक्षित-गँवार, विद्वान्-मूर्ख, शैव-वैष्णव, शिया-सुन्नी, युवा-वृद्ध सभी तरह के लोग रहा करते थे। दोपहर तक लोग वहाँ समान रूप से विद्यमान रहते। स्वामीजी की वाणी को विराम नहीं मिलता था, श्रोताओं में से जिसकी जो इच्छा होती पूछ लेता। स्वामीजी शान्त भाव से सारे प्रश्न सुनते और उनके मर्मस्पर्शी उत्तर सुनकर सभी सन्तुष्ट हो जाते।

मान लीजिए स्वामीजी भावविभोर होकर तीव्र, वैराग्य, ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग की बातें कह रहे हैं, इसी बीच कोई थोड़ा-सा अवसर पाकर पूछ बैठा, "महाराज, आपका शरीर किस जाति का है?"

स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया, "कायस्थ शरीर है।"

फिर थोड़ी देर बाद ही सम्भव है कोई पूछ बैठता, "बाबाजी महाराज, आप गेरुआ क्यों पहनते हैं?"

बाबाजी ने उत्तर दिया, "यह भिक्षुक का वेश है इसलिए। सफेद कपड़ा रहे तो गरीब लोग भिक्षा माँगते हैं। मैं स्वयं ही भिक्षुक हूँ, बहुधा उन्हें देने को पास में एक पैसा भी नहीं रहता। फिर माँगा जाय तो न दे पाने पर मन में पीड़ा होती है। परन्तु गेरुआ पहने देखकर वे लोग समझ जाते हैं कि ये भी हमीं लोगों में से एक हैं, फिर इनसे कैसे माँगे?"

दूसरे ही क्षण फिर उनके उसी तत्त्व-ज्ञान का प्रवाह चलने लगता। ज्ञान का प्रवाह चलते-चलते हो सकता है कि कभी माँ काली की कृपा व महिमा का प्रसंग आ जाय, उनके प्राण मतवाले हो उठे और स्वामीजी के मुख से कोई और बात ही न निकलती हो, बस उच्च स्वर में 'माँ-माँ' की ध्वनि उच्चरित होने लगती। वही मधुर स्वर क्रमश: करुण होकर अन्तर में विलीन हो गया, सर्वांग स्थिर हो गया और उनके रक्तिम हो आए नेत्रों से वेगपूर्वक प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगा। श्रोताओं के प्राण भी भीग गए और वे भी अपने नयन-नीर में डूबने उतराने लगे। थोड़ी देर तक सभी स्थिर नीरव चित्रलिखे-से स्वामीजी की ओर देखते रहे। स्वामीजी ने पुन: गाना आरम्भ किया, उनके मधुर कण्ठ-प्रवाह के साथ उनके नेत्रों की स्निग्ध वारि ने सबके प्राणों में भगवद्-अनुराग की धारा को मुक्त कर दिया। फिर क्षण भर बाद ही विभिन्न देशों की विभिन्न बातों के साथ हास-परिहास के माध्यम से अपूर्व उपदेश दे रहे होते। दोपहर के समय गृहस्वामी पण्डित जी ने स्वामीजी को भोजन के लिए बुलाया। स्वामीजी सबसे विदा लेकर भोजन के लिए गए। बाकी सब लोग भी मध्याह्न-भोजन के लिए अपने अपने स्थान को चल दिए।

भोजन के उपरान्त स्वामीजी ने बाहर आकर देखा कि निकट के मुहल्ले के लोग आकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। देखते-ही-देखते फिर पहले के समान ही भीड़ एकत्र हो गयी और स्वामीजी की प्राणस्पर्शी वाग्धारा बहने लगी। स्वामीजी कहने लगे, "महा साम्यवाद हमारे देश में चिरकाल से ही विद्यमान है। इसी साम्यवाद ने अकबर बादशाह के हृदय पर अधिकार कर लिया था; इसीलिए वे प्रति बुधवार को एक धर्मसभा आयोजित कर उसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी (जरथुस्त्री), ईसाई आदि सभी सम्प्रदायों के श्रेष्ठ लोगों को एकत्र कर, आपस में तत्त्वचर्चा करने को कहते और स्वयं उस चर्चा का सार-तत्त्व हृदयंगम करते। कभी-कभी चर्चा के दौरान आपस में विवाद छिड़ जाता। उस समय बादशाह स्वयं ही मध्यस्थ होकर कलह को शान्त करते। सभी सम्प्रदायों के कल्याण हेतु अनेक हिन्दू धर्म-शास्त्रों को उन्होंने उस समय की राजभाषा (फारसी) में अनुवाद भी कराया था। एक दिन बादशाह ने अपनी माता से सुना कि ईसाई देशों में किसी व्यक्ति ने एक कुत्ते के गले में एक कुरान बाँधकर उसे नगर में घुमाया है। राजमाता ने अपने धर्म-ग्रन्थ के इस प्रकार अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए अपने सुयोग्य पुत्र को बुलाकर ईसाई धर्म-शास्त्र का भी वैसे ही अपमान करने का अनुरोध किया। बादशाह ने उन्हें समझाया

कि यदि किसी मूर्ख ने हमारे धर्म-शास्त्र का अपमान किया है, इसी कारण अकबर शाह की माता को भी उसी प्रकार का नीच-अनुष्ठान करना उचित नहीं। जैसे मेरा धर्म मेरे लिए आदर तथा पूजा की चीज है, वैसे ही दूसरों के लिए उनका अपना धर्म भी आदर एवं पूजा की वस्तु है। वह आदमी मूर्ख है, जिसने यह बात नहीं समझी और ऐसा गलत आचरण किया, परन्तु जिसने यह बात समझ ली है, वह भला किस प्रकार ऐसे कार्य में प्रवृत्त होगा? पुत्र के महान् भाव को हृदयंगम करने में असमर्थ होकर साम्राज्ञी अकबर से अपनी आज्ञा का पालन कराने के लिए हठ करने लगीं। आखिरकार बादशाह ने कहा, "माँ, मैंने कभी आपकी आज्ञा की अवहेलना नहीं की है। परन्तु आज आपने ही ऐसा करने को मजबूर किया, प्राण रहते मेरे द्वारा किसी भी धर्म का अपमान नहीं हो सकेगा।" अत: –

सबसे बसिए सबसे रसिए सबका लीजिए नाम ।
हाँ जी; हाँ जी, करते रहिए, बैठिए अपने ठाम ।।

– "अर्थात् अपनी इष्टनिष्ठा बनाए रखकर, अपने धर्म में दृढ़ रहकर सबके साथ रसास्वादन तथा वार्तालाप करना अच्छा है, क्योंकि सभी धर्म सत्य हैं और सभी धर्म भगवान तक पहुँचने के पथ हैं। परन्तु अपना धर्म भलीभाँति समझे बिना अन्य धर्मों की चर्चा करने से कुफल को छोड़ सुफल नहीं होगा। श्रीरामकृष्ण ने पहले अपने धर्म की साधना की और तदुपरान्त अन्य धर्मों की साधना करके देखा कि सभी का एक ही उद्देश्य है – ईश्वर की प्राप्ति।"

स्वामीजी जब प्रतिदिन शाम को भ्रमण के लिए निकलते, तब कम-से-कम दस-बारह लोग उनके साथ होते। इधर-उधर टहलने के पश्चात् सभी लोग संध्या को लौट आए। संध्या को ही सबको अपने-अपने कार्य से छुट्टी मिलती थी, अत: उसी समय लोगों की संख्या और भी अधिक रहती।

स्वामीजी ने लौटकर बँगला कीर्तन गाना शुरू किया और सबको अपने साथ मिलकर गाने को कहा। इसी प्रकार दो-चार दिन चलने के बाद सभी लोग उनके साथ समवेत स्वर में भलीभाँति बँगला कीर्तन गा लेते थे, बीच-बीच में नृत्य भी होता। राजपुताना वैष्णव-प्रधान क्षेत्र है और कृष्ण-विषयक भजन वहाँ सबको बड़े प्रिय हैं, इसीलिए स्वामीजी एक दिन गाने लगे (भावार्थ) –

मैं शरीर पर गैरिक वसन धारण कर
शंख के कुंडल पहने ।
योगिनी के वेश में, जाऊँगी उस देश में
जहाँ निष्ठुर हरि का वास है ।।
मैं मथुरा नगर के घर-घर में जाकर के
योगिनी होकर ढूँढ़ूगी ।
और यदि किसी गृह में, प्राणसखा मिल गया
तो आँचल से बाँध लूँगी ।।
मैं अपने प्रिय को, स्वयं ही बाँधूँगी
कोई उसे रख नहीं सकेगा ।
यदि कोई उसे रोके, तो मैं प्राणत्याग दूँगी
और नारीवध का दोष उसी को लगेगा ।।

स्वामीजी ने ठहरकर भजन का तात्पर्य समझाया और फिर गाने लगे। गाते-गाते बहनेवाली अश्रुधारा से उनके कपोल भीग गये। श्रोताओं की आँखें भी नम हो उठीं, सबकी दृष्टि उन्हीं महापुरुष की ओर लगी हुई थी; कोई-कोई सोच रहा था कि बाबाजी को अवश्य ही वृन्दावन-चन्द्र के दर्शन हो रहे होंगे, तभी तो वे इतने विभोर, इतने भावुक हो उठे हैं! नहीं तो हम लोग भी तो उन्हें पुकारते हैं, परन्तु हममें तो ऐसी तन्मयता नहीं आती। फिर अन्य कोई सोच रहा है – यही तो ईश्वर की विभूति है, इन्हें ईश्वर की प्राप्ति हुई है। गाते-गाते स्वामीजी का स्वर और भी करुण हो उठा, हृदय के आवेग से कण्ठ अवरुद्ध हो गया, शरीर जड़वत् स्थिर हो गया, मुखमण्डल पतिप्राणा नारी के समान हो गया मानो प्राणप्रिय के स्पर्श से प्रेमोत्फुल्ल हो उठा हो!

कृष्ण-विषयक वे भजन सबको इतने प्रिय लगते कि उनमें से दो-एक भजन किसी-किसी ने काफी काल तक याद रखे थे। क्रमश: रात के ग्यारह बजे तक और कभी आधी रात तक ऐसा ही आनन्द चलता रहता। किसी के भी समझ में नहीं आता कि समय कैसे बीत गया। रात को उनसे विदा लेकर जाते समय मार्ग में सभी लोग उन्हीं के बारे में चर्चा करते। कोई कहता, "बाबाजी कैसे आनन्दमय व्यक्ति हैं! मुख पर सदा हँसी ही बनी रहती है।" कोई अन्य बोल उठता, "महाशय, श्लोकों की इतनी सुन्दर आवृत्ति मैंने और किसी के मुख से नहीं सुनी।" कोई तीसरा कहता, "स्वामीजी के कण्ठ में 'नाद' है। आपने देखा न, इतने लोग उन्हें तरह-तरह से तंग करते हैं, पर उनमें नाराजगी नहीं है। कितने लोग मूर्ख के समान उल्टे-सीधे प्रश्न करते हैं, पर वे सबको उत्तर देते हैं। महाशय, मैं रहता तो नाराज हो उठता।" फिर अन्य कोई कहता, "क्रोध आदि नहीं है, सिद्ध पुरुष हैं। नहीं तो देखिए न मन में यही आता है कि फिर कब उनके पास जाऊँगा।"

बंगाल के नगरों की तुलना में राजपुताना के नगरों में उच्च-शिक्षित लोगों की संख्या काफी कम है। वहाँ के ग्रामीण अंचल में तो अँग्रेजी शिक्षित लोग प्राय: नहीं के समान है, तथापि इक्के-दुक्के ऐसे राजकीय कर्मचारी मिल जाते हैं। संस्कृतज्ञ पंडितों की संख्या भी बहुत कम है। राजधानी अलवर में जो दो-एक ऐसे लोग थे, वे सभी स्वामीजी के पास आते-जाते उनके भक्त हो गए थे। परन्तु

स्वामीजी अशिक्षित-निर्धनों का विशेष आदर-यत्न करते थे, तथापि प्रत्येक व्यक्ति को लगता कि वही स्वामीजी का विशेष स्नेहपात्र है।

मौलवी साहब की भिक्षा

इसी प्रकार कुछ दिन बीतने के बाद पूर्वोक्त मौलवी साहब के मन में प्रबल इच्छा हुई कि वे स्वामीजी को अपने घर में भिक्षा कराएँगे। उन्होंने सोचा – "स्वामीजी दरवेश हैं, उनमें जात-पात का भाव नहीं है, परन्तु वे पण्डितजी के घर हैं अत: कहीं पण्डितजी को कोई आपत्ति न हो।" यह सोचते हुए वे प्रतिदिन के समान ही एक दिन संध्या के समय स्वामीजी का दर्शन करने गए।

उपस्थित सभी लोगों के सामने मौलवी साहब ने पण्डित जी को सम्बोधित करते हुए कहा, "पण्डितजी, कल बाबाजी महाराज इस अधम की कुटिया में भिक्षा पाएँगे। ऐसी व्यवस्था की जाएगी कि आपको कोई आपत्ति न रहे। बैठकखाने का सारा सामान निकलवाकर, झाड़ने-पोछने के बाद ब्राह्मण से उसे धुलवाऊँगा। ब्राह्मण के घर से पीतल के बर्तन आदि मँगवाकर, ब्राह्मण के हाथों बाजार करवाकर रसोई बनवाऊँगा। स्वामीजी जाकर उसी कमरे में बैठकर सेवा ग्रहण करेंगे और यह अधम यवन सारे समय दूर खड़ा होकर देखेगा और स्वयं को कृतार्थ मानेगा।"

मौलवी साहब ने हाथ जोड़कर ऐसी आन्तरिक नम्रता के साथ उपरोक्त बातें कहीं कि वहाँ सभी लोग हँस पड़े और पण्डितजी ने भी हँसते हुए प्रीतिपूर्वक उनका हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा, "स्वामीजी दरवेश हैं। उनके लिए भला जात-पात क्या! त्यागी महात्माओं को तो इन सबका कोई विचार नहीं रहता। आपको इतना सब करने की कोई जरूरत न थी। मुझे तो कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती, तो भी आप अपनी इच्छा से जैसी भी व्यवस्था करना चाहें, वह आपकी खुशी।" सभी एक स्वर में मौलवी साहब की भक्ति तथा सच्ची दीनता की प्रशंसा करने लगे। पण्डितजी पुन: बोले, "उस तरह की व्यवस्था करने पर तो मुझे भी आपके घर खाने में कोई आपत्ति नहीं रहती, फिर स्वामीजी तो ठहरे मुक्त पुरुष; इन्हें तो आपत्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।" सब लोग और भी हँसने और मौलवी साहब को लेकर आनन्द करने लगे।

इस अंचल के हिन्दुओं का मुसलमानों के साथ ऐसा सद्भाव है कि वे किसी मुसलमान मित्र के घर जाकर दरी पर बिछे हुए उत्तम बिछौने पर एक साथ बैठते हैं और अपनी उपस्थिति के दौरान मुसलमान मित्र के उसी बिस्तर पर बैठकर भोजन आदि करने पर भी कोई आपत्ति नहीं व्यक्त करते। अत: पूर्वोक्त व्यवस्था पर पण्डित जी को कोई आपत्ति नहीं हुई। मौलवी साहब ने तहे-दिल से साधु-सेवा की। यह देखकर कि मौलवी साहब ने इन महापुरुष की सेवा की है, अन्य ईश्वरानुरागी मुसलमान भी उसी प्रकार की साधु-सेवा करने के लिए अतीव आग्रहपूर्वक स्वामीजी को अपने अपने घर ले जाने लगे।

इस प्रकार अनेक लोग स्वामीजी के दर्शन, सान्निध्य तथा उपदेशों से कृतार्थ हुए। कितने ही विद्वान् तथा अपढ़, धनी तथा निर्धन, वृद्ध तथा युवक और कितने ही विभिन्न धर्मों तथा रुचियों के लोग आए और सभी को उनके पास नवजीवन का स्वाद मिला। उसी समय स्वामीजी ने कुछ विशेष भाग्यवान लोगों को मंत्रदीक्षा भी प्रदान की थी।

दीवान रामचन्द्र के आवास पर

बंगाल में धनी या उच्च-पदस्थ लोगों का अपने से निर्धन या निम्न-पदस्थ लोगों के घर जाने में किसी प्रकार अभिमान प्राय: देखने में नहीं आता। परन्तु यहाँ मान के भय से या किसी अन्य कारणवश धनी या उच्च-पदस्थ व्यक्ति का निर्धन या निम्न-पदस्थ व्यक्ति के घर जाना प्राय: देखने में नहीं आता। इसी कारण पण्डित शम्भुनाथजी से भी अधिक उच्च-पदस्थ लोग स्वामीजी को निमंत्रित कर अपने घर ले जाते और उनकी सेवा करते।

क्रमश: एक-दूसरे से होते हुए स्वामीजी की चर्चा अलवर राज्य के दीवान मेजर रामचन्द्र के कानों तक जा पहुँची और एक दिन वे भी स्वामीजी को निमंत्रित कर अपने घर ले गए।

अलवर के महाराज मंगलसिंह जी (शासनकाल – १८७४-१८९२) राज्य के कार्य में ध्यान देने की अपेक्षा वहाँ के अंग्रेज सेना-निवास में रहकर अँग्रेजों के साथ मेल-जोल रखना और उन लोगों के साथ शिकार पर जाना अधिक पसन्द करते थे। अँग्रेजों के साथ अधिक मेल-जोल के फल-स्वरूप, राष्ट्रीय शिक्षा-दीक्षविहीन व्यक्ति में जो दोष पैदा हो जाते हैं, मंगल सिंह में भी वे ही दोष आ गए थे। इस कारण उच्च-पदस्थ निष्ठावान हिन्दू राजकर्मचारी मन-ही-मन बड़ा कष्ट पा रहे थे। स्वामीजी के सम्पर्क में आने के बाद दीवान रामचन्द्र ने विचार किया कि महाराजा की मति-गति सुधारने का यह एक बड़ा ही स्वर्ण अवसर आ पहुँचा है।

महाराजा उस समय दो-तीन कोस दूर सेलसेट में स्थित एक निर्जन महल में निवास कर रहे थे। दीवान ने अगले ही दिन महाराजा को पत्र द्वारा सूचित किया – "यहाँ एक महा-विद्वान् संन्यासी पधारे हैं। अंग्रेजी भाषा पर तो उनका ऐसा अधिकार है कि उसे देखकर मैं विस्मित हो गया हूँ। श्रीमान इनके साथ वार्तालाप करके नि:सन्देह सन्तुष्ट होंगे।"

❖ (क्रमश:) ❖

(अगले अंक में अलवर-नरेश के साथ स्वामीजी का वार्तालाप और अन्य विवरण)

रामकृष्ण मठ तथा मिशन द्वारा सुनामी राहत-कार्य

रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा अन्दमान, तमिलनाडु और श्रीलंका में किये गये सुनामी राहत-कार्य (५-१-२००५ तक) का एक संक्षिप्त विवरण - हिन्द महासागर के तटवर्ती क्षेत्रों में आये महा-विध्वंशक सुनामी तूफान के उपरान्त रामकृष्ण मिशन ने इस आपदा के प्रथम दिन से ही अपने केन्द्रों के द्वारा तमिलनाडु के चेन्नई तथा मदुरै में, अन्दमान द्वीप के पोर्टब्लेयर में और श्रीलंका के कोलम्बो में सामूहिक राहत-कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार उसका सविस्तार विवरण निम्नलिखित है –

१. पोर्ट ब्लेयर

तिथि	राशन	भोजन	दूध	कपड़े	वस्त्र	अन्य चीजें
२८-१२-२००४	१०००	–	–	२००	२००	–
२९-१२-२००४	१०५०	५००	१००	२००	५०	मोमबती, दूध पिलाने की बोतलें - १००
३०-१२-२००४	१०००	१५००	१००	५०	१००	चाय-१०००, पीने का पानी - १००० पाउच
३१-१२-२००४	६००	१७००	१००	५०	५०	चाय-१०००, पीने का पानी -१००० पाउच
१-१-२००५	१०००[१]					

१. राशन के पैकेट हवाई जहाज द्वारा सुदूर स्थित द्वीपों में पहुँचाने के लिए प्रशासन को सौंपे गये।

२. कोलम्बो में

तिथि	राशन	भोजन	दूध	कपड़े	वस्त्र	अन्य चीजें	टिप्पणी
प्रतिदिन (दो बार)	–	१७००	–	–	–	–	–
३०-१२-२००४	५२०	–	–	५२०	–	–	दो ट्रक सामग्री
३१-१२-२००४ से ३-१-२००५ तक	–	३६००	–	–	–	–	बैट्टिकोलोआ में

उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त भी निम्नलिखित वस्तुयें बाँटी गयीं —

वितरण क्षेत्र	वितरित वस्तुएँ
त्रिंकोमाली जिले के इच्छालम्पट्टू गाँव में	चावल २७१५ किलो, दाल १६९२ किलो, चीनी १००० किलो, चाय २६० किलो, दूध पाउडर २०८ किलो, सम्पोशा ३१२ किलो, मोमबती ९८२०, दियासलाई ९८२, चटाइयाँ ५४०, विछावन १०२८, बिस्कुट ५०० पैकेट, साड़ियाँ ६००, भोजन पकाने के एल्युमूनियम के बर्तन और ढक्कनयुक्त साम्बार का बर्तन ५५०।
मुल्लैतिवु शिविर में	चावल ३२०० किलो, चीनी ५३४ किलो, दाल ६७० किलो, दूध-पाउडर २१८ किलो, बच्चों के लिये दूध-पाउडर १५ किलो, बिस्कुट बड़े १८ तथा छोटे २५ पैकेट, तकिये ४४, फीडींग बोटल-२०, फिडिंग कप १२, एल्युमूनियम के बर्तन ३५, प्लास्टिक बाल्टी ३०, प्लास्टिक मग ४८, करछुल ३०, साबुन (नहाने का) ४५५, कपड़े धोने का ४१५, मच्छर भगाने का क्वायल २६८, प्लास्टिक प्लेट ८३०, प्लास्टिक कप ६२४, चटाइयाँ २५०, साड़ियाँ ३३०, चोंगे १५०, स्कर्ट व ब्लाउज ६८५, लुँगियाँ २५०, पैंट-कमीज २३०, बच्चियों के लिये फ्राक १७०, बच्चों के कपड़े २४०, शिशुओं के कपड़े २०, महिलाओं के इनर्स ६५०, हाथ पोंछने के तौलिये २११, विछावन ८०
मुल्लैतिवु शिविर में दी गई दवायें -	कैपसूल तथा गोलियाँ १९६३४, सीरप की बोतलें ४६, सालूशन्स २८, बैंडेज १०४, रूई बंडल २२, डेटॉल १४ बोतल और अन्य चुनींदा दवायें।

३. चेन्नई में

(क) चेन्नई नगर –

१. चेन्नई के पट्टिनपक्कम क्षेत्र के २०० लोगों को २६ दिसम्बर २००४ से मठ के समीप विवाह-मण्डम में आश्रय दिया गया।

२. चेन्नई के समीपस्थ कलपक्कम, कोकिलमेदु कुप्पम्, महाबलीपुरम् और ओयालीकुप्पम् आदि गाँवों में २६ दिसम्बर, २००४ से ३० दिसम्बर, २००४ तक ७६०० लोगों को लगभग २.५ लाख रुपयों का भोजन, दवाएँ, पानी, ब्रेड आदि दिया गया और २५० लोगों में लगभग २५,००० रुपये मूल्य की चटाइयाँ, बिछाने की चादरें वितरित की गयीं।

(ख) चिंगलपेट –

१. २६ दिसम्बर की रात में जितने भी लोग आये, उन्हें हमारे विद्यालय-भवन में आश्रय दिया गया।

२. तिरुक्काषुकुन्ड्रम् नामक गाँव में प्रातःकाल ३०० शरणार्थियों को भोजन दिया गया।

३. लोगों में वितरित किये गये भोजन का विवरण निम्नवत् है –

तिथि	सुबह	दोपहर	स्नैक्स	रात	अन्य	राहत-कार्य का क्षेत्र
२९-१२-२००४	१०००	१०००	१०००	१५००	१०० चटाइयाँ व २० विछावन	कोकिलमेदु कुप्पम् व वायलीकुप्पम्
३०-१२-२००४	५००	५००	५००	५००	दूध ५०, चाय ५००	कोकिलमेदु कुप्पम् व वायलीकुप्पम्
३१-१२-२००४ तथा १-१-२००५	१०००	१०००	-	१०००		कोकिलमेदु कुप्पम्
३१-१२-२००४ से ३-१-२००५ तक	२६००	२६००	-	२६००		थजूथली कुप्पम्
२-१-२००५ से ३-१-२००५ तक	१२००	१२००	-	१२००	मिठाइयाँ १९००	कोकिलमेदु कुप्पम्
३-१-२००५	-	७२० बच्चों को बिस्कुट और मैनगो फ्रूटी दिया गया			–	आली कुप्पम्

४. राजनगर के कोकिलमेदु कुप्पम् व पुदुपट्टिनम् में मेडिकल कैम्प लगाकर २९ तथा ३० दिसम्बर, २००४ के दिन २०० लोगों की और २ जनवरी, २००५ को ४८ लोगों की चिकित्सा की गई।

५. कोकिलमेदु कुप्पम् में १०० परिवारों को वर्षा से बचाने के लिये २५ हजार रुपये व्यय करके ५० फीट लम्बी तथा २० फीट चौड़ी फूस की एक अस्थायी झोपड़ी बनायी गयी तथा उसकी मजबूती के लिये १५ हजार रुपये के कैजुरिनो के खम्भे लगाये गये।

६. ताषुताली कुप्पम् गाँव के १०० परिवारों को लगभग ८५ हजार रुपये मूल्य के बर्तन, अनाज, सरसों, खाद्य-तेल और अन्य आवश्यकता की सामग्रियाँ प्रदान की गईं।

(ग) नागपट्टिनम् – ३१ दिसम्बर, २००४ को नागूर गाँव के ५००० परिवारों को एक-एक पैकेट दिया गया, जिनमें ६०० रुपये मूल्य की धोती, साड़ी, तौलिया, चटाई, ओढ़ने की चादर, कम्बल और पकाने तथा खाने के बर्तन थे।

(घ) कन्याकुमारी – २००० लोगों को प्रारम्भिक राहत के रूप में भोजन, कम्बल, बर्तन, बच्चों के कपड़े, बड़ों के लिये कपड़े और प्रत्येक को एक-एक बॉक्स दिया गया।

ङ - कडालोर – ३१ दिसम्बर, २००४ को ताषानगुडा और देवनामपट्टिनम गाँव के ७००० लोगों को कपड़े दिये गये।

४. मदुरै – ३० दिसम्बर, २००४ को रामेश्वरम् में मछुआरों के बीच १५ क्वींटल चावल, १ क्वींटल दाल तथा १५०० किलो सब्जियाँ वितरित की गईं।

'रामकृष्ण मठ' और 'रामकृष्ण मिशन' को दिये गये सभी प्रकार के दान आयकर आधिनियम १९६१ की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। प्रेषित राशि का चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' के नाम से बनवाया जाय। दान निम्नलिखित पते पर भेजा जाय –

रामकृष्ण मिशन
पो. - बेलूड़ मठ, जिला - हावड़ा
(पश्चिम बंगाल) पिन - ७११ २०२

५ जनवरी, २००५
बेलूड़ मठ, हावड़ा

स्वामी श्रीकरानन्द
उप महासचिव